

श्री

अम्बादास चवरे दिग्मन्त्रज्ञन प्रस्थानकाल-२

तो संख्या ३२१



सावधानदोहा

भूमिका, अलुवाद, शब्दकोश, टिप्पनी आदि सहित

सम्पादक

हीरालाल जैन, एम. ए., एल. एल. वी.,
संस्कृताचार्यपक, किंग एडवर्ड कालेज, अमरावती;
भूतपूर्व रिसर्च स्कालर, अलाहादाद यूनीवर्सिटी.

वीर निर्वाण संवत् २४५८]

[विक्रम संवत् १९८९



एहु धम्यु जो आयरह बंभणु सुदु वि कोइ ।
सो सावड किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥७६॥



प्राकृकथन

प्रस्तुत ग्रन्थ के दर्शन प्रथम बार सुन्ने सन् १९२४ में काशी के सेनगण मण्डार में हुए थे और उस प्रति पर से इस ग्रन्थ का परिचय सन् १९२६ में प्रकाशित Catalogue of Sanskrit and Prakrit MSS. in C. P. & Berar में दिया गया था। उस परिचय से कई विद्वानों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकर्षित हुआ और उसे प्रकाशित करने के लिये सुन्न पर आप्रद होने लगा। किन्तु एक ही प्रति परसे इस का सम्पादन करने का सुन्न साहस नहीं हुआ, इससे ठहरना पड़ा। अगले वर्ष इस प्रन्थमाला की नवी डाली गई और तबसे ग्रन्थ की अन्य प्रोधियों की खोज में विशेषज्ञ से प्रयत्नशील दीना पड़ा। सन् १९३० में हिन्दुस्तानी एकाडेमी, नू. पी., के अध्यक्ष श्रीयुक्त डॉ. ताराचन्द्रजी एम.ए., डी. फिल., ने इस ग्रन्थ को देखने की इच्छा प्रकट की। किन्तु उस समय तक इसारे हाथ में इसकी उपर्युक्त एक ही कही प्रति भी और उसकी प्रथम कापी सैकार की जा रही भी इससे वह नहीं जा सकी। और और अन्य प्रसिद्धों का पता चला और उसी अनुपार इसका संशोधन होता गया। अब तक हमें इसकी ग्राहक प्रोधियों का पता चला है जिनका परिचय 'संशोधन सामग्री' में कराया गया है।

पहले इसारा विचार ग्रन्थमाला के अन्य ग्रन्थों के सहित इसका सम्पादन सी अंग्रेजी में करने का था। किन्तु अनेक भित्रों व ग्रन्थमाला के सद्ग्राहकों का आप्रद हुआ कि वाप्रशंश भाषा के कुछ ग्रन्थ हिन्दी में सी सम्पादित होना चाहिये ता कि हिन्दी संसार में उक्त दोनों भाषाओं का सम्बन्ध स्पष्ट रूप से ज्ञालक जावे। तदसुसार इस ग्रन्थ का सम्पादन हिन्दी में करने का निश्चय हुआ। आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थों में भी अनेक ग्रन्थों का हिन्दी में सम्पादन करने का विचार है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में हमारे मित्र श्रीयुक्त ए.एन.उपाध्ये एम. ए., अर्थमान्यधी प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापुर, से बहुत सहायता मिली है। उन्होंने द. प्रति प्राप्त होने के पूर्व सुने उस प्रति की अपने लिये कराई हुई एक क्षापी देखने के लिये भेजने की कृपा की तथा पत्रों द्वारा भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना, की तर्जि पोथियोंका परिचय कराया। सन् १९३८ के Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute में आपका ' Joindu and his Apabhramsa Works ' शीर्षक लेख ब्रकाशित हुआ है। हमने उस लेख से भी सहायता ली है। प्रन्थ के कुछ शब्दार्थ चाक्यों के द्वारा आपके पास विवर के लिये भेजा था उनपर भी आपने पत्र द्वारा मत प्रकट करने की कृपा की। इसका हमने टिप्पनी में उपयोग किया है। इस सब सहायता के लिये हम आपका बहुत उपकार मानते हैं।

हमारे मित्र डाक्टर पी. ए.ल. वैद्य, एम्. प., डी. लिद., प्रोफेसर, वाणिया कालेज, पूना, ने भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना, की म. प्रति हमारे अवलोकनार्थ भिजवाने की कृपा की। तदर्थे हम आपका आभार मानते हैं।

श्रीयुक्त पञ्चलालजी अश्रवाल, सहायक मंत्री, जैनमित्रमण्डल दिल्ली, व श्रीयुक्त मोहनद्वज्जी, सम्पादक ' वौरसन्देश ' आगरा, ने हमें क्रमशः द. और अ. प्रतियो भिजवाने की कृपा की। इसके लिये हम आपके कृतज्ञ हैं।

हुद्धर डॉ. ताराचन्दजी गंगधाल, एम. बी. बी. एस., पेलेस सर्जन, जयपुर, व श्रद्धेय मास्टर मोतीलालजी संधी, संस्थापक, सन्मति पुस्तकालय, जयपुर, ने हमें जयपुर की पोथियों देखने में बड़ी सहायता पहुंचाई। एतदर्थे हम आपके आभारी हैं।

इस ग्रन्थ के सम्पादन व प्रन्थकर्ता का निर्णय करने में हमें क. प्रति से विशेष सहायता मिली है। इस प्रति के लिये हम भट्टारक महाराज और वीरसेनजी स्वामी, सेन गण, कारंजा के बृहणी हैं। इस ग्रन्थ-

माला को सफल बनाने में आप बहुत बुल्ल कारणीभूत हुए हैं जैसा कि हम प्रथम अंथ की प्रस्तावना में कह चुके हैं।

मान्यवर गोपाल अम्बा(दासजी चावडे, कारंजा, इस प्रन्थ-माला के जोवनाधार हैं। आपकी प्राचीन जैन साहित्य को उत्तम लंग से प्रकाशित देखने की बड़ी उत्कृष्ट हैं। आपकी ही प्रेरणा से हमें इस कार्य में विशेष उत्साह हुआ है। आपका उपकार विरस्मरणीय है।

सदस्ती लेस, लगाराजनी, के गीतेलद शिल्प टी. पम. पाढील तथा प्रेस के अन्य कुर्मचारियों ने इस प्रन्थ को छापने में बड़ी सुविधा और खावधानी दिखाई है इसके लिये मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

इस प्रन्थमाला का प्रधान उद्देश्य प्राचीन जैन साहित्य को इस लंग से प्रकाशित करने का है कि जिससे साहित्यिक छानबीन व ऐतिहासिक खोज में विशेष सहयता पहुँचे। यह हम माला के प्रथम प्रन्थ में ही प्रकट कर चुके हैं। यदि उस उद्देश्य की प्रस्तुत अन्थ द्वारा किसी अंश में पूर्ति हुई तो हम व हमारा मण्डल अपने प्रयास को सफल समझेंगे। उसी दिशा में किसी प्रकार की कमी व त्रुटि की पूर्ति के सम्बन्ध में हमारे चिन्हान् पाठक जो सम्मति प्रदान करने की लूपा करेंगे उसका हार्दिक स्वागत किया जायगा।

किंग एडवर्ड कलिज,

अमरावती

अनन्त चतुर्दशी, वि. सं. १९८९.

हीरालाल

विषयसूची

	पृष्ठ
ग्रन्थकथन	१
भूमिका	२-३
१ संशोधन सामग्री	४
२ अन्यकर्ता	५
३ अन्य का नाम, प्रचार, दृक्का- टिप्पनी व परम्परा	६-७
४ भाषा और व्याकरण	८)
सावधानदोहा, मूल पाठ, पाठमेद व सानुवाद	१-६७
परिशिष्ट (अधिक दोहे सानुवाद)	६८-७१
शब्दकोश	७२-१०४
टिप्पनी	१०५-१२०
दोहों की वर्णानुक्रमणिका	१२१-१२५
शुद्धिपत्र	१२६

भूमिका

१ संशोधन सामग्री ।

अबतक सावधानमदेहा की ग्राचीन इस्तलिखित नी पोथियों हमारे देखने में बड़े सुनने में थार्ड है। इनमें से जुनी हुई चार पोथियों (अ. क. ज. द.) का अकारशः मिलान वरके प्रस्तुत संस्करण में उनके पाठ शेष अंकित किये गये हैं व शब्द से यत्र तत्र सहायता नहीं गई है। इन प्रतियों का परिचय इस प्रकार है—

अ.प्रति मोतीकट्टा,आगरा,के दिगम्बर जैन मंदिर की है। पत्र संख्या-१८; आकार ९३ "X९"; पंक्तियां प्रति पृष्ठ - ७ से ९ तक; वर्ण प्रतिपंक्ति-लगभग ३०; हाँसिया ऊपर नीचे-१", दौये बौये १५"; शारम्भ का एक और अन्त के दो पत्र दूसरे हाथ के लिखे हुए हैं। अनुमानतः पहले पत्र बहुत अर्ण होजाने से उनकी नकल करके ये पत्र जोड़ दिये गये हैं। अर्ण पश्चों का अव पता नहीं है।

प्रारम्भ-कं नमः सिद्धेभ्यः ।

अंत-इति शावकाचारदेहदा जोगेन्द्रेवकृत संपुर्ण ॥ सुन्त अष्टु ॥

इस प्रति में कुल दोहों की संख्या २२५ है। अधिक दोहा परिशिष्ट में देखिये। १० घे दोहों के प्रथम चरण का पाठ कुछ भिन्न है [पाठमेदों में देखिये]। इसके पाठ क. प्रति से अधिक मिलते हैं।

क. प्रति कारंजा के सेनाणमंडार की है। पत्रसंख्या- १६; आकार- ११"X५"; पंक्तियां प्रतिपृष्ठ- ५; वर्ण प्रतिपंक्ति-लगभग ३०; हाँसिया ऊपर नीचे-३", दौये बौये- १ २" ।

श्रामभ—के नमः श्री पार्वतायाम नहीं घरणेन्द्रवशाक्तीसहिताय ।
अन्त—इय दोहाबद्वयधर्मे देवसेवै उवादितु ।
लहुअक्खरमत्ताहीयथो पय सयय खमेतु ॥

इय दोहाबद्वयसावयधर्मसम्मले लिपितमित्तं जगतकार्त्तेण संबन्ध
१७८० कुवार वदि १४ हृदयग्रन्थात् लिपितमित्तं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २३५ है और एक संस्कृत श्लोक ‘उपर्युक्त’
रूप से उच्छृत किया गया है (परिशिष्ट देखिये) । इष्टके पाठ अ. प्रति से
अधिक मिलते हैं ।

आ. प्रति जयपुर के तेजायनी मंदिर की है । पत्रसंख्या—११;
आकार—१०२"×४२"; पंक्तिया प्रतिपृष्ठ—१३; वर्ण प्रति पंक्ति—लगभग
३५; हाँसिया ऊपर नीचे—२"; दौये बौये—१२" ।

श्रामभ— श्री जिनाय नमः ।

अन्त— इति श्रीभावकाचारदोहकं समाप्तं ।

इसमें कुल दोहों की संख्या २२३ है । दोहा नं. २१९ नहीं है । नंबर
देने में त्रुटि के कारण प्रति के अन्तिम दोहे पर नं. २३१ आया है ।

द. प्रति पंचायती दिग्मवर जैग मंदिर, देहली, की है । पत्रसंख्य
१३; आकार—११२"×५"; पंक्तिया प्रतिपृष्ठ—९ से ११ तक; वर्ण प्रति-
पंक्ति—लगभग ३३; हाँसिया ऊपर नीचे—२"; दौये बौये—१". दोहों की
संख्या २३४ ।

श्रामभ— के नमो वितरणाय ।

अन्त—इति श्रावकाचारदोहकं समाप्तम् ।

अथ संक्षेपेऽस्मिन् श्री नृपविक्रमादिलराज्ये संबत् १६०३
वर्षे । श्रावण वदि १२ शुक्रवर्षे । मृगशारनक्षेत्रे । व्याधात-

नामयेगे । मानस उपजोगे । धीपद्यमुभस्थाने । श्रीछादि
असलेमसाहित्यप्रवर्त्तमने । श्रीजैनसंघे ब्रह्मदीप तत्
शिष्यणी जीलतोयतरंगिणी वहि देवलालेखापितं आत्मार्थे ।
ज्ञानवान् ज्ञनदानेन इल्यादि चार छोड़,

इस प्रश्नाभित्र से हमें ज्ञात होता है कि यह प्रते दीक्षम संवत् १६०३
तदनुसार सन् १५४६ ईस्वी में लिखी गई थी और उस समय दिल्ली के सहृद
पर साह असलेमसाह (श्रीपशाह सूर का बेटा सलीमसाह सूर) था । यह
उल्लेख सुगल व शूरवंश के इतिहास के लिये महत्वपूर्ण है ।

प. प्रति जग्यपुर के पाटोदी जैग मंदिर की है । पत्र संख्या-३१;
दोहों की संख्या-२२४, हाँसिये पर रिप्पण है ।

अन्त- इति उपासकाचारे आचार्य श्री लक्ष्मीचन्द्रसिंहचित्रे
दीक्षकसूत्राणि समाप्तानि । स्वरूप संवत् १५५५ वर्षे
कार्तिक सु. १५ सोमे श्रामूलसंवि सरस्वतीगठे बला-
त्कारणेऽन्यविद्यानेदिष्टे मञ्चिपूषण तत्त्वश्च पं लक्ष्मण-
पठनार्थं होहाआवकाचार ।

यह प्रति नि. सं. १५५५ तदनुसार सन् १५९८ ईस्वी की लिखी हुई
है । अतः प्राप्त प्रथियों में जिनमें लिखने का समय पाया जाता है उन सब में
प्राचीन है । दुर्लभ ऐ इय प्रति का पूरा २ मिलान करने की सुझ सुविधा
न मिल सकी ।

प. २. यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है । पत्र संख्या-११;
दोहों की संख्या-२२४, लिखने का समय नहीं दिया गया ।

प. ३. यह प्रति भी उपर्युक्त पाटोदी मंदिर की है । पत्र संख्या-१४;
दोहों की संख्या-२२७; लिखे जाने का समय- संवत् १६१२
वैशाख शु. ११.

प. ४ यह प्रति भी उपर्युक्त पाठोदी मंदिर की है। पञ्च संख्या-८; दोहों की संख्या- २२७; लिखे जाने का समय नहीं दिया है।

भ. प्रति भाण्डारकर रियर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, की नं. १३०८/१४५१-१५ की है। पञ्च संख्या- १००, आकार- $10\frac{3}{4}'' \times 5''$; पंक्तियों प्रतिपृष्ठ-४; वर्ण प्रतिपंक्ति- लगभग २८; हाँसिया ऊपर गीचे- १", बैंये बैंये- $1\frac{1}{2}''$, इसमें दोहों की संख्या २२५ है। दोहा नं. २०० व २१९ नहीं हैं तथा तीन दोहे अधिक हैं [परिशिष्ट देखिये]। किन्तु नंबर देने में त्रुटि के कारण अन्तिम दोहे का नं. २२६ आया है। यह प्रति सटीक है। इसके पाठ्ये व टीका का उपयोग प्रस्तुत प्रथ की 'टिप्पनी' में किया गया है। टीका का विशेष परिचय आगे दिया जायगा।

प्रारम्भ— अय प्राकृत दीघकर्बंध उपासकाचार लिख्यते ।

अन्त— इति आवकाचारदोहके लक्ष्मीचन्द्रकृत समाप्तं । श्री ।

मूलं योगीन्द्रदेवस्थ लक्ष्मीचन्द्रस्य पंजिका ।

शुलिः प्रभाचन्द्रमुनेमैदृती तत्त्वदीपिका ॥ १॥

भ. २. यह प्रति भी उपर्युक्त भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट की है। और संवत् १५९३ की लिखी हुई है। दोहों की संख्या २२४ है तथा अंथ का नाम 'आवकाचार दोहडा' दिया गया है।

भ. ३. यह प्रति भी उपर्युक्त भाण्डारकर इन्स्टीट्यूट की है। इसमें दोहों की संख्या २२४ है। १० वें दोहे का पाठ अ. प्रति के समान है (पाठमेद देखिये)। वह संवत् १५९९ की लिखी हुई है।

अन्त— इति उपासकाचारे आर्यरक्षमीचन्द्रविरचिते दोहक—
सूत्राणि समाप्तानि ।

उपर्युक्त दोनों प्रतियों रत्नकीर्ति के शिष्य आर्य व अङ्ग चहोड़न के लिये लिखी गई हैं। वे उपर्युक्त इन्स्टीट्यूट के नं. १९२/१८८७-९१ के एक

ही गुरुके में बंधी हुई हैं। इन प्रतियों को हमने नहीं देख पाया। उनका परिचय हमें दसारे मित्र श्रीयुक्त ए. एन. लपाठे, एम. ए., अर्द्धसामाधी श्रीके-सर, राजाराम कलेज, कोल्हापुर, के एक पत्र से प्राप्त हुआ है।

२. ग्रन्थकर्ता

यह ग्रन्थ किसका बनाया हुआ है यह प्रश्न बड़ा जटिल है। ग्रन्थ के सूचभाग में कर्ता का कहीं, कहीं, किसी प्रकार का भी उल्लेख नहीं पाया जाता। किन्तु जिन हस्तलिखित प्रतियों का ऊपर परिचय दिया गया है उनमें से अनेक के अन्त में अन्यसमाप्तिसूचक वाक्यों में ग्रन्थकर्ता का नाम उल्लेख किया गया है। हम यदौ इन्हीं उल्लेखों की सूची जोच कर सचेत ग्रन्थकर्ता के पता लगाने का प्रयत्न करेंगे।

तीन प्रतियों (प; म; स. ३.) में यह ग्रन्थ लक्ष्मीचन्द्रकृत या विरचित कहा गया है। विद्यानन्दिदि के शिष्य श्रुतसागर कृत षट्प्रासृत टीका में इस ग्रन्थ के आठ दोहे उच्छृत किये गये हैं और दो स्थानों पर उन दोहों के कर्ता स्पष्ट रूप से लक्ष्मीचन्द्र या लक्ष्मीधर कहे गये हैं—‘तथा जोके लक्ष्मीचन्द्रण गुरुणा’; ‘तथा जोके लक्ष्मीधरण भगवता’। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों नाम एक ही व्यक्ति के थोड़क हैं। इससे भी उक्त प्रतियों के कथन की सुषिट होती है। षट्प्रासृतटीका की प्रकाशित पुस्तक की भूमिका में जो श्रुतसागर का परिचय दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि लक्ष्मीचन्द्री उनके समयामयिक थे तथा उनकी गुरुरम्भरा इजराकार थी—विद्यानन्द—मणिनूयग—लक्ष्मीयन्द्र। उनकी एह चैली ने अशाधर कृत ‘सद्यमिषेऽसमाध्य’ का अपने हाथ से लिखकर खेत्र १५८२ में पूरा किया था। इन उल्लेखों से ऐसा प्रबोल होता है कि लक्ष्मी-चन्द्रकी द्वी प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता थे, तथा वे संदर् १५८२ के लगभग हुए हैं।

किन्तु म. प्रति में जो अन्तिम श्लोक है उससे इस कथन की सत्यता में सत्त्वरुप परिवर्त दौ जाता है। इस श्लोक में प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्य-

तीन नामों का सम्बन्ध बतलाया गया है—सूलग्रन्थकार योगिन्द्रदेव, पंजिकार कार लक्ष्मीचन्द्र और दृष्टिकार प्रभाचन्द्र मुनि। इसी कथन के साथ साथ प. प्रति के अन्तिम वाक्य पर विचार कीजिये। उस वाक्य में कहा गया है कि संवत् १५८५, कार्तिक सुरि १५, सोमवार को विद्यानान्दि के पह पर अधिष्ठित मलिमूषण के विष्णु प. लक्ष्मण के पठनार्थ दोहकश्रावकाचार लिखा गया। हमारा अनुमान है कि लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्र का दीक्षित होने से पूर्व का नाम है और उन्हीं की विष्णवास्था में उनके पठनार्थ वह प्रति तैयार हुई थी। इससे निश्चय हो गया कि लक्ष्मीचन्द्रजी इन दोहों के मूलकर्ता नहीं हैं। उनकी बनाई हुई 'पंजका' कौनसी है इसपर आगे चलकर विचार किया जायगा। प. प्रति में जो 'लक्ष्मीचन्द्रविलिखिते' वाक्य आगया उसी से पांछे के लिखिकारों ने तथा श्रुतसागरजी से घोखा लिया। यथार्थ में वहाँ 'श्री लक्ष्मीचन्द्रविलिखिते' या 'श्रीलक्ष्मीचन्द्रार्थलिखिते' पाठ होना चाहिये था। लक्ष्मीचन्द्रकृत अन्य कोई संस्कृत, प्राकृत व अप्रसंश प्रन्थ हमारे देखने सुनने में नहीं आया।

ग्रन्थकर्ता की खोज में अब हमारी हाथि योगिन्द्रदेव पर जाती है जो अ. और म. प्रति में इस प्रन्थ के कर्ता कहे गये हैं। योगिन्द्रदेव के अवतरण चार प्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—परमात्मप्रकाश, योगसार, अनुताशीति और भिजात्माष्टकम्। इनमें से प्रथम दो प्रस्तुत प्रन्थ के समान ही अप्रसंश दोहों में रचे गये हैं। तीसरा प्रन्थ संस्कृत व चौथा प्राकृत में है। श्रीयुक्त ठपाभ्ये ने एक अंग्रेजी लेख में प्रस्तुत प्रन्थ व परमात्मप्रकाश का मिलान कर यह मत प्रकट किया है कि इन दोनों की रचना में एक दो जगह साधारण सम्म को छोड़ कर्वे स्मरणीय साइर्य नहीं है। हमने ग्रन्थकार के सभी प्रत्येकों को इसी हेतु से देखा। तीन ग्रन्थों में से तीन कोई साइर्य नहीं मिला किन्तु परमात्मप्रकाश में नियम लिखित उक्तियों पर हाथि अढ़की। भिलान की युविधा के लिये हम प्रस्तुत प्रन्थ के अवतरणों के साथ साथ इन्हे यहाँ लिखते हैं—

परमात्मप्रकाश

- ८ भावे पणविवि पंचगुह
१०३ सरगत जेण खियालियउ
तहि कठिक कड गणु ।
२१८ खोला लयियवि ते जि मुणि
देउलु देउ छहंति ।
२२१ अथयउ कहि भि कुडिलियइ
२३९ रुवि पर्यगा सहि मिय ...
२४१ लोहाहु लयियि हुफाहु
पिक्कु पञ्चतउ तोहु ।
२६४ सूख्यिणहुइ तस्वरहु अवसहु
सुकहि पन्न ।
२९२ हुछइ मोहु तडति तसु

साधयधमदोहा

- १ पणवेषियउ भावे पंचगुह
२ खिय सरगउ कटवेण
१०६ देउल लयिय खिडियर
कि ण पलोइइ मुक्कु ।
११२ जाम ण देइकुडिलियइ
१२६ रुवासत पर्यगडा ...
१४८ लोहाहु लियइ रारेण
पेक्कु परोहण तेग ।
४५ अह कंदलि लयालियइ वेलिहे
पत समत ।
१०० फुडिवि जाइ सडाति

अब प्रश्न यह है कि क्या अ. और भ. प्रति के कथन तथा उपर्युक्त बाह्य पर से यह प्रन्थ योगीन्द्रदेवकृत कहा जा सकता है? सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इन बाह्यों में हमें ऐसा एक भी नहीं दिखता जो आकस्मिक न हो सकता हो। फिर, भाषा को छोड़ कर जब हम विषय पर जाते हैं तो योगीन्द्र के ज्ञात प्रन्थों तथा प्रस्तुत प्रन्थ में बड़ा अन्तर मिलता है। योगीन्द्र यथार्थ नाम योगीन्द्र ही थे। उनके सभ प्रन्थ अध्यात्म तत्त्वों से ज्ञोतप्रोत हैं। उनका उपदेश आदि से अन्त तक यही है कि बाह्य कियाओं व आङ्गम्बरों में कुछ तथ्य नहीं है। अपनी आत्मा में लोन होने से ही सच्चा सुख मिल सकता है। योगीन्द्र को सृष्टि आत्ममय दिखती थी। उनके विचार वेदान्तियों कैसे थे। वे देव, शास्त्र, उह की पूजा के कहुत परे थे। उनके विचार से—

देउलु देउ वि सत्यु गुरु तित्यु खि वेउ वि कच्छु ।

बत्यु लु रीखइ हुकुमियत इंद्रानु लोगइ लत्यु ॥ पृष्ठ ३५७॥

कानु समाहि करउँ को अंचउँ ।

छोपु अछोपु करिबि को अंचउँ ॥

हल राह कलहि केण समाणउँ ।

जहिं जहिं जोवउँ तहि अपाणउँ ॥ योग. ३९ ॥

इन विचारों को हेकर यह संभव नहीं जान पड़ता कि उन्होंने दान, पूजा, उपवासादि के महत्व के प्रतिपादक प्रस्तुत प्रन्थ की रचना की होगी । यह ही सकता है कि उन्होंने योगिन्द्र होने से पूर्व शूद्रस्थावस्था में ही इस प्रन्थ की रचना की हो । इन्होंने एक तो इस प्रन्थ में उनको मार्ग अभ्यासिकता के कोई विशेष लक्षण नहीं पाये जाते । दूसरे कविता की हाइ से प्रस्तुत प्रन्थ योग्यन्द्र के अन्य प्रन्थों से अधिक प्रीढ़ जन पड़ता है । अतः एक ही प्रन्थकार की कृति मानने पर उसे इन प्रन्थों से पूर्व रचित कहना उपयोग नहीं आनता ।

प्रन्थकार के लुम्बन्ध में हमें जो तीसरा संकेत मिलता है वह क. प्रति के अन्तिम दोहे में है । उसमें यह प्रन्थ ‘देवसेन उवदितु’ अर्थात् देवसेन द्वारा उपदित करा गया है । दिगम्बर जिन प्रन्थकारों में देवसेन एक सुप्रसिद्ध प्राचुर्य कवि हुए हैं । उनके प्रकाशित प्रन्थ दर्शनसार, आराधनासार, तत्त्वसार, नयनक, आलाप पढ़ति व मावसंग्रह—इन समय हमारे समझ में हैं । आलापपद्धति को छोड़ केव सब मंय प्राचुर्य भाषा में रखे गये हैं । दर्शन-सार को छोड़ केव सब भाषिकन्द्र प्रन्थमाला में प्रकाशित हुए हैं । प्रस्तुत प्रन्थ से याम्य की खोज में दृपने इन सब को देख डाला । भावसंग्रह में हमें दृपरे प्रन्थ से कुछ विशेष सांदर्भतार्थ मिली हैं । उन्ह दृप लहाँ उधर करते हैं—

सावधम्मदोहा

भावसंग्रह

- | | |
|--|--|
| ३ जिह समिलहि साथर गवहि
दुखहु जूयहु रेखु ।
तिह जीवहु भवजलगयहु
मणुयत्तणि संरेखु ॥ | १६९ अद्वा जह कदव पुणी
पावह मणुयत्तणि च संसारे ।
जुयसमिला संजोए
लहइ ण देसी कुलं आज ॥ |
| २२ मज्जु यंसु भहु परिहरहु
करि पंचुकर दूरि । | ३५६ महुमज्जमंसविरहि
चाओ पुण उंबराण पंचाहे । |
| ४१ देसण रहिय कुपति जह
दिणगइ ताह कुमोउ । | ५३३ कुचिछयपत्ते कि चि वि
फलह कुदेवेसु कुणरतिरएङ्ग । |
| ८२ हयगयसुणहे दरियहं
मिच्छार्धद्विहि योग । | ५४४ केई पुण गयतुरथा
गेह रथाम ठगाहै इत्ता । |
| ८३ तं अपन्तु आगमि भणिड
णत वयदेसण आसु ।
णिफलु दिणाउ होइ तसु
जह ऊसरि कउ सागु ॥ | ५३२ ऊसरखिते बीये सुफखे रुक्खे
य णिरअहिसेथो । जह तह
दाणमवत्ते दिणं खु णिर-
त्थयं होइ ॥ |
| ८५ इकु वि तारह भवजलहु
वहुदायार युपत्तु ।
सुपरोहण एकु वि षहुय
दीसह पारहु णितु | ५०६ जह पावा णिन्छहा....
तारह पारावारे.... |
| १६६ इकछिद्विय पाहणमरिय
दुइह पाव ण भंति | ५१० तह संसारसम्है....
तोरह शुणाहियं पत्तं । |
| | ५४८ पावा जह सचिछहा
परमपाणि च उवहिसलिलमिन
वोलेह तह कुपत्तं
संसार महोवही भीमे ॥ |

८६ दाणु कुपत्तहं दोसहद
बोलिजाइ यहु भेति ।
पत्थर पत्थरणाव कहिं
दीसह उत्तारंति ॥

११३ गमणट्रियहं तरंझउ वि
अद्वव ण पावह पाह ।

२२१ लोहकजि दुतरतरणि
णव विशारिय तेण ।

८९ काहं कहुतहं संपयहं
जड़ किविपहं घरि होह ।

९३ जो घरि हुतहं धणकणहं
मुणिहि कुभोयणु देह ।
जमिम जमिम दालिझड
पुक्कि ण तहु छेह ॥

९६ उत्तमार्द भोयावणिहि

९७ घरि घरि दस कप्पयर जहि
ते पूरहि अहिलासु ।

१३१ यहाँ सुज्जहं भौतिकउ
छितउ चंडालेण ।

५४७ पत्थरमया वि दोणी
पत्थरमप्याणयं च बोलेह ।
आह तहु कुचिछयपसो
संखरे चेन बोलेह ॥

१८७ जहु पाहाणतरंडे
लग्गो पुरिसो हु तीरणी तेण
तुझह किगमाथरो ...

५४९ लोहमए कुतरंडे
लग्गो पुरिसो हु तीरणीबाहे ।

५५९ किविणेण संचयधर्ण
ण होह उवथारियं जहा सस्स ।

५१६ जो मुग हुतहं धणकणहं
मुणिहि कुभोयणु देह ।
जमिम जमिम दालिझड
पुक्कि ण तहो छेह ॥

५८७ पुण्णवलेणुवजाइ
कहमवि पुरिसो य भोयभूमीसु
सुजेह तत्थ भोए
दहकापतरुम्भवे दिव्वे ॥

५९१ पायव दसप्पयारा
चितियं दिति मणुयार्ण ।

१७ मण्णह जलेण सुहिं
२० को इह जलेण सुज्जह
२३ घृता वि ते ण सुद्धा
२४ किं कुण्ड तेसु यहाँ

१७० सूहगभणि तलाड	३९२ जह गिरेणइ तब्बए
१०६ अहु सरवरि भद्रारिणइ पाणिड होइ अगाहु ।	अणवरयं पवित्रे सलिल- परिपुण्ण ।
	३१९ गिरणिवगउ णहवाहो पवित्रह सरमिम जहाणवरयं ।
१८३ जलधारा जिणपयगयउ रखहै पणासइ यासु ।	४७० पस्तमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिणा जल- धारा ।

इन अवतरणों में भाव, भाषा व उक्तिविशेष का साटदय विचारणीय है। इसके अतिरिक्त कुछ शब्दों का साम्य भी उल्लेखनीय है—

काठड (सा. १८, भा. ५३५); तड (सा. १५ (सा. ३९ आदि,
भा. २११ आदि); तलाड (सा. १७०, भा. ३१२); एवड (सा. १७९,
भा. ४१५); चढफड (सा. १२४, १५८, भा. ४५); तरंव (सा. १९३,
भा. ५४९); केज (सा. १२५, भा. ४४९). ४१ वें दोहे का पुट्टिमंस संभव है १७३ वीं गाथा के 'पिठर' का ही शोधक हो (देखो ४१ दोहे की टिप्पनी) ।

यथाथ में सावद्यदम्म के २२४ दोहे व भावसंश्रद्ध की ३५० से ५१९ तक की २५० गाथाओं के विषय, भाव व भाषा में असाधारण साटदय है। कहीं एक ही विषय दोनों में एकही प्रकार से आया है, जैसे—

१. पात्र और दान का विवेक— सा. ७९ आदि; भा. ४९७ आदि.
२. बृतादि सर्वेरसामिवेक — सा. १८१ आदि; भा. ४३८ आदि.
३. अश्रद्धवपूजा और फल — सा. १८४ आदि; भा. ४७१ आदि.
४. धर्म से स्वर्गादि मुख्य और मोक्ष—सा. १६३ आदि; भा. ४८४ आदि.

किसी किसी विषय का एक प्रन्थ में उल्लेख मात्र तथा दूसरे में उसका पूरा विवरण मिलता है, जिससे ये दोनों प्रन्थ एक दूसरे के परिपूरक से ज्ञात होते हैं; जैसे—

१. अष्टमूलगुण व बारह व्रत का भावसंग्रह की ३५२ व ३५६ वीं गाथाओं में उल्लेख मात्र है। सावित्री भद्रों के १० से ५२ तक के ४३ दोहों में इन्हीं का सविस्तर वर्णन है।

२. भावसंग्रह की ३७५ वीं गाथा में तीर्थकर के आष प्रतिहार्य का उल्लेख मात्र है। सावित्री भद्रों में उन आठों का आठ दोहों (१५०—१५८) में काश्य की रीति से वर्णन है।

३. सावित्री भद्रों के २१२ वें दोहों में खिद्रचक की स्थापना का बहुत सूक्ष्म उल्लेख है। इसी विषय का भावसंग्रह की ४४३—४५६ गाथाओं में बहुत विस्तर वर्णन है।

इस प्रकार दून दोनों प्रन्थों में एक ही कर्ता का हाथ दिखाई देता है। विशेषतः सावित्री भद्रों का जो ५३ वाँ दोहा भाव संग्रह के ५५६ वं. पर ऐसा का तैसा पाया जाता है उससे इस विषय में बहुत कम सन्देश रह जाता है। भावसंग्रह जिन दो हस्तलिखित प्रतिमों पर से छपाया गया है उनमें से एक प्रति में यह दोहा 'उर्कं च' खंपसे पाया गया है। किन्तु अधिक पुराणी प्रति में 'उर्कं च' शब्द नहीं है। यदि 'उर्कं च' शब्द मूल के ही मान लिये जाय तो इससे यही सिद्ध होता है कि सावित्री भद्रों की रचना भावसंग्रह से पूर्व ही चुकी थी और कर्ता ने उस दोहे को यहाँ प्रसंगेपयोगी जान उत्त्पत्त कर दिया। ऐसी द्विषक्ति देवसेनजी के अन्य प्रन्थों में भी पाई जाती है। इसी भावसंग्रह में उनके दर्शनसार की अनेक गाथाएँ आई हैं। उक्त दोहे को पूछे क्या प्रश्नित मानने का न तो कोई प्रमाण नहीं और न कोई कारण।

एक और बात है जो प्रस्तुत प्रन्थ को देवसेनकृत स्वीकार करने में सहायता पहुंचाती है। देवसेनकृत जिन प्रन्थों का उल्लेख इन उपर कर

आये हैं उनमें एक 'नयचक' सी है। माणिकबन्द्र अन्यमाला में यह लघु नयचक के नाम से छपा है और उसी के साथ एक और बहुत नयचक छपा है जो माहूलदेवकृत है। खिलान करने से ज्ञान हुआ है कि बहुत नयचक में लघु नयचक पूरा गुण हुआ है। यदि हम पहले को दूसरे का परिवर्भित रूप या दूसरे को पहले का संक्षिप्तरूप कहें तो अनुचित न होगा। इस परिवर्भित रूप के अन्त में निम्न लिखित चार गाथायें पर्दे आती हैं—

सुणिकण दोषरस्थं सिगधं हसिकण सुहंकरो भणइ ।
यत्थं ण सोद्दह अतथो गाहावंधेण तं भणह ॥ ४१८ ॥

सियसद्सुणयदुणणथदणुदेहविदारणेकवरवीरे ।
तं देवसेनदेवं णयचक्करं सुहं णमह ॥ ४१९ ॥

दब्दसहःदपयासं दोषवंधेण आसि जं दिटुं ।
गाहावंधेण पुणो रद्ये माहूलदेवेण ॥ ४२० ॥

तुसमीरणेण पोश्येदिय संतं जह तिरं णटु (?) ।
सिरिदेवसेणसुणिणा तह णयचक्कं पुणा रद्ये ॥ ४२१ ॥

इन गाथाओं का अर्थ की हालि से कम ठीक नहीं आन पड़ता तथा ४२३ वीं गाथा का पाठ कुछ अवृ है अतएव उसका भाव भी कुछ अपृष्ठ है। किन्तु मेरी समझ में इनका भाव यह आता है कि कोई प्राचीन लक्षण अप्रसिद्ध होगया था उसका पुनरुद्धार करने की हालि से देवसेन ने पिरसे उसकी रचना की १५। यह रचना दोहाजंघ में हुई जिसे मुनकर एक मुभंकर भहाशय ने हँस + दिया और कहा कि यह अर्थ इस छंद में नहीं सोहता, इसे गायावद् करो। तदनुसार उसके शिष्य माहूलदेव ने उसे गाथाओं में परिवर्तित किया।

* देवसेनजी को प्राचीन रचनाओं को खोजहर सनके पुनरुद्धार की बड़ी रुचि थी। दर्शनसार में उम्होने समष्ट कहा है कि पुरानी गाथाओं का संचय करके ही उन्होने उस अन्य को रचा।

यदि उक्त गाथाओं का यही ढीक भावार्थ हो तो हमें उससे दो बातें ज्ञात होती हैं। एक तो यह कि दोहा छंद का अविष्कार उस समय संभवतः नया था और पंडित-मंडली में वह हेच दृष्टि से देखा जाता था। दूसरी यह कि देवसेन को इस छंद में अनश्वरत्वना करने की सचि थी। उनके भावसंग्रह में ही पांच पश्च अपध्यंश भाषा के रुदा छंद के पाथे जाते हैं और शेष भाग में भी अपध्यंश भाषा का अधिक प्रभाव दिखता है। नयचक का विषय पाण्डित्यपूर्ण न्याय था। अतः 'शुभंकर' के कुचक से उसका दोहाबद्ध रूप नष्ट कर दिया गया। किन्तु सावयधम साधारण ग्रहस्थों के लिये लिखा गया था इससे यह उस कुचक से बच गया।

जौभास्थ से देवसेनजी के समय व देश के सम्बन्ध में कोई अनिश्चय नहीं है। उन्होंने अपने दर्शनसार प्रन्थ के अन्त में स्पष्ट रूप से कह रखा है कि उन्होंने उस अन्थ की रचना धारा नगरी के पार्श्वनाथ मंदिर में बैठकर संवत् १९० की माघ सुदि १० बीं को समाप्त की। यथा—

' पुद्यायरियकयाहं गाहाहं संचित्तण एयत्थ ।
सिस्त्रिदेवसेणगणिणा धाराप संबसंतेण ॥ ४२ ॥'

रहओ दंसणसारो हारो भव्वाण णवलण णवए ।
सिरि पासणाहुरोहे सुविसुद्धे माहसुखदसमीण ॥ ५० ॥

थाए। नगरी व मालवा मान्त में सदैव विक्रम संवत् का प्रचार रहा है तथा दर्शनसार में अन्यत्र जहाँ जहाँ संवत् का उल्लेख आया है वहाँ कर्ता ने स्पष्टतः 'विक्रमकालसु मरणपतस्स' ऐसा कहा है। इससे उपरोक्त संवत् के भी विक्रम संवत् होने में कोई संदेह को स्थान नहीं है। धारा-नगरी विद्वानों के जुटाव के लिये प्राचीन काल में प्रसिद्ध ही रही है। प्राकृत भाषा का भी यहाँ बाढ़ा पठन होता रहा है। उपलब्ध प्राचीनतम प्राकृत कोष 'पाद्यलङ्घी- नाम- माला' की रचना भी जैन कवि धनपाल ने

विकास संबत् १०२९ में यहाँ की थी व यहाँ के निवासी प्रभाचन्द्र पंडित ने विकास संबत् १११२ के आषाषास पुष्पदन्त के अपश्रंश काब्यों पर टिप्पण लिखे थे। (देखो णायकुमारचरित, भूमिका) ।

अतः यिद्ध हुआ कि प्रस्तुत सावयधम्मदोहा के कर्ता देवसेन हैं, उसकी रचना विकास संबत् ११० के लगभग मालवा प्रान्त की घारा नगरी में हुई है तथा यह ग्रन्थ दोहा छंद का एक प्राचीनतम उदाहरण है।

३ ग्रन्थ का नाम, प्रचार, टीकाटिप्पनी व परम्परा.

इस ग्रन्थ का विषय आवकों का धर्म व आचार है। इस विषय के जैन ग्रन्थों का नाम प्रायः आवकाचार व उपासकाचार ही रखा जाता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ अधिकांश पोषियों में ‘आवकाचार दोहक’ या ‘उपासकाचार’ कहा गया है। किन्तु मूल ग्रन्थ में यह नाम कही नहीं पाया जाता। ‘आवकाचार’ शब्द तक मूल ग्रन्थ में कही नहीं आया। ग्रन्थ कर्ता ने प्रथम ही दोहे में इसे ‘सावयधम्म’ कहा है व अन्त में (२२२ वाँ दोहा) इसे ‘धर्मघेणु संदोहयहं’ ‘दोहों की अर्थवेतु’ कहा है। क. प्रति में ग्रन्थ का नाम ‘दोहाचंद्र सावयधम्म’ दिया गया है। यही नाम कर्ता को अभीष्ट ज्ञात होता है। तदनुसार ही प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम ‘सावयधम्म-दोहा’ रखा गया है।

जान पड़ता है गत शताब्दियों में इस ग्रन्थ का कुछ अच्छा प्रचार हहा है, इसी से इसकी इस्तेलिखित प्रतियां दिल्ली, आगरा, जयपुर, बिहार व पूना में पाई गई हैं। कई प्राचीन लेखकों ने इसके छुंदर दोहे अपनी कृतियों में उल्लेख किये हैं। ‘दोहा पाहुड़’^१ में इसका एक दोहा (२१३) पाया जाता है। शुतावागर ने अपनी षट्प्रापृत दीका में इसके आठ दोहे (१०५, १०६-

^१ यह ग्रन्थ भी अपश्रंश दोहों में है। इसे भी इस ग्रन्थमाला में प्रकाशित करने का प्रसन्न दोहा है।

११२, १३९, १४८ और १५६) उच्चत किये हैं जैसा कि ऊपर कह लाये हैं। वृष्णि नेमिदल छुत प्रीलिंकरनवित में इसके दो दोहे (२८, ६७) पढ़िये गये हैं। सूक्ष्म परिशीलन से और धनेक प्रन्थ में इन दोहों के पारे जाने की सम्भाषना है।

ग प्रसि के अन्तिम श्लोक से हमें ज्ञात हुआ है कि इस प्रथं पर लक्ष्मीचन्द्र ने एक 'पंजिका' तथा प्रभाचन्द्रसुनि ने एक 'तत्त्वदीपिका' नामक 'शृति' लिखी। किन्तु उस पोयी पर से यह नहीं ज्ञात हो सका कि उसपर की टीका इनमें से कौन सी है। उस प्रति के वेष्टन पर भण्डारकर दृष्टिशृणु के कर्मचारियों ने 'दोधक आवकाचार लक्ष्मीचन्द्र की पंजिका सहित' ऐसा लिख रखा है जिससे ज्ञात होता है कि उनकी समझ में वही टीका लक्ष्मीचन्द्र छुत पंजिका है। इसके लिये उनका आधार उच्च श्लोक के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिखता। इसके गिर्णय के लिये और कोई प्रमाण न पा हमारा ध्यान 'पंजिका' व 'शृति' के अर्थ व मेद पर जाता है। हेमचन्द्राचार्य ने टीका व पंजिका की परिभाषा इस प्रकार की है 'टीका निरन्तर व्याख्या पंजिका पदभंजिका' और इसकी टीका है 'सुगमानं विषमाणं च निरन्तर व्याख्या यस्यां सा टीका। विषमाणेन पदानि भनक्ति पदभंजिका'। इससे हमें ज्ञात हुआ कि लगातार व्याख्या का नाम टीका और केवल कठिन शब्दों की व्याख्या का नाम पंजिका है। इस 'शृति' की भी कोई प्राचीन परिभाषा जानना चाहते थे किन्तु यह हमें फिर द्वाल कही मिली नहीं। पर 'शृति' का हम मह अर्थ समझते आये हैं कि उसमें नूल का सरल शब्दों में अनुचार दिया जाता है जिसे ऑफ्रेजो में paraphrase कह सकते हैं। भ. प्रति की टीका हमें इसी प्रकार को ज्ञात होता है। उसे हम उपर्युक्त परिभाषा के अनुचार पंजिका नहीं कह सकते। उसमें केवल विषम यदों की व्याख्या नहीं है किन्तु पूरे दोहे का सरलार्थ देने का प्रयत्न किया गया है। हमारा अनुमान है कि यह लक्ष्मीचन्द्र जी की 'पंजिका' नहीं किन्तु प्रभाचन्द्रसुनि की 'महती तत्त्वदीपिका वृत्ति' है।

इस वृत्ति में अन्तिम सात दोहों का अर्थ नहीं समझाया गया। हमने इस वृत्ति का उपर्योग अपनी टिप्पणी में किया है। दो जार स्थानों पर इस वृत्ति से दोहों के अर्थ पर अच्छा प्रकाश पड़ा है और इसलिये हम इसके कर्ता का उपकार मानते हैं। किन्तु इस वृत्ति से कर्ता अपने लक्ष्य में कहाँ तक सफल हुए हैं यद् विषयनी में स्थान स्थान पर उच्चत अंशों से पाठकों को ज्ञात हो जावेगा। लेखक का साहस तो अवश्य प्रशंसनीय है किन्तु सल्ल के नाते हमें कहाँ पड़ता है कि उनकी यह चेष्टा अधिकांश अनधिकार ही थी। उनके सम्मुख न तो मूल प्रन्थ की छुट्ट कापी ही थी और न उनमें उसे छुट्ट कर सकने की क्षमता थी। वे अपनी भाषा के कुछ अल्ले जानकार इतन नहीं होते। हाँ, विषय के जानकार अकरब थे। उसी के सद्विद्वारे बहुत कुछ अदकल पच्चू लिखते गये हैं। एकाघ जगह तो उन्न अदकल भी अटक गया (देखो दोहा नं. १३५ की टिप्पणी)। उनका संस्कृत का ज्ञान भी बहुत अधूरा था। वे लिङ्ग, वचन, तिष्णत कृद-न्तादि के सब वियमों के परे थे। हम यह ऐसी त्रुटियों पर से नहीं कह रहे हैं जो लिपिकारकृत हैं। उनकी भाषा में ऐसी त्रुटियाँ हैं जो लिपिमात्र के प्रभाव से नहीं हो सकतीं। वे अविलंब से भी सर्वथा हीन थे। मूल की सुन्दर छुन्दर उपभाषों व सूसों पर उन्होंने अपनी वृत्ति द्वारा पानी केर दिया है। सारे ग्रन्थ में कठिनाई से दसवीस देखे हेसे होंगे जिनका पूरा भाव और शब्दार्थ उनकी वृत्ति में आगआ हो। पूर्णतः छुट्ट संस्कृत तो शायद किसी एक दोहे की वृत्ति में भी न मिलेगी। पहले विचार हुआ था कि इन वृत्तियों के कुछ नमूने यहाँ उधृत किये जाय और इस हेतु कितने ही दोहों की वृत्तियाँ लिख भी डालें थी। किन्तु पीछे उन्हें अनावश्यक जान छोड़ दिया। इस वृत्ति के विषय में हमने जो बातें यहाँ कही हैं उनके स्थेष्ट प्रमाण टिप्पणी में उधृत अंशों में ही पाठकों को मिल जायेंगे।

ये वृत्तिकार कथ कहाँ हुए इसके न तो कोई प्रमाण हमारे सम्मुख हैं और न इसकी कुछ जाँच पढ़ाता लक्षण की इच्छा ही होती। हाँ, इतना

कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यदि इसके कर्ता प्रभाचन्द्र नामधारी ही थे तो वे पुष्टदन्त के अपन्नें वाच्यों पर टिप्पण लिखने वाले वे प्रभाचन्द्र नहीं हो सकते जिनका हम ऊपर सल्लेख करते आये हैं। प्रभाचन्द्र नामके अनेक सुनि और कर्ता हुए हैं (देखो 'रत्नकरण शाखाचार भूमिका पंडित जुगलकिशोर मुख्तार कृत, व जैनशिलालेखसंग्रह भाग १')। यदि कुति कोई बहुत प्राचीन ज्ञात नहीं होती।

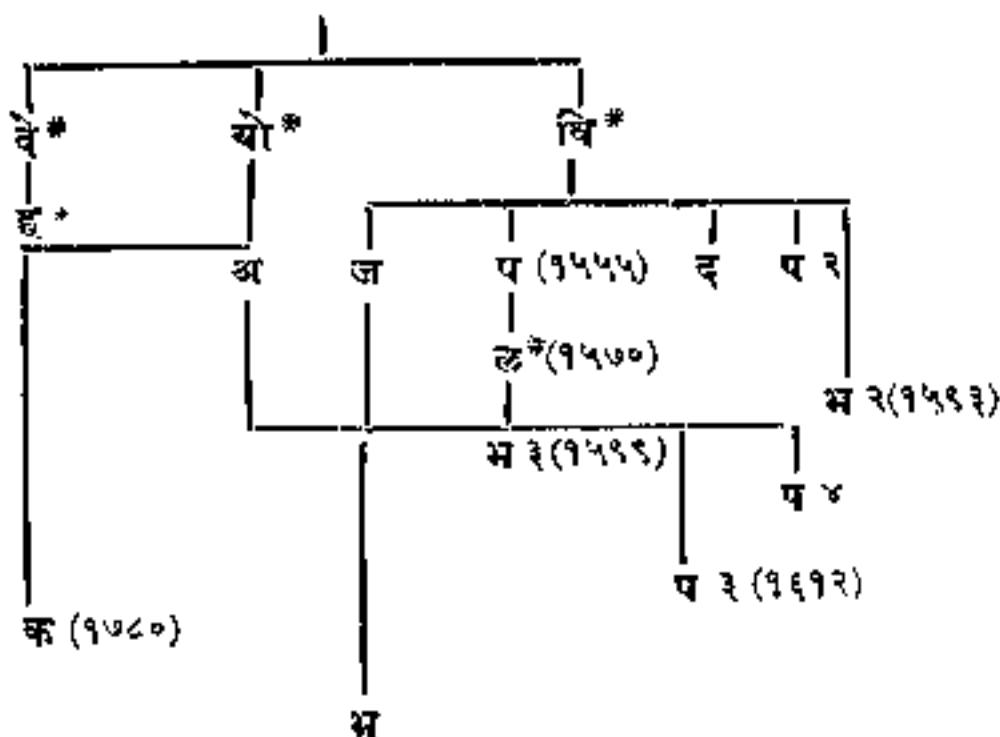
अब प्रश्न यह है कि इन दोहों की लक्ष्मीचन्द्रकृत 'पञ्जिका' कौनसी है। हमारा अनुमान है कि जो टिप्पण प. प्रति पर पाया जाता है वही यह पञ्जिका है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुयार टिप्पण और पञ्जिका में कोई बहुत ज्ञात नहीं होता।

अब हम पूर्वोक्त पोन्नियों की विशेषताओं पर से इस अन्ध की परम्परा का कुछ अनुमान कर सकते हैं। देवसेनकृत मूळ पन्थ वि. सं. १९० के लगभग तैयार हुआ। व्याघारी पांच सौ वर्षों में इसकी तीन प्रकार की प्रतियां प्रचलित होंगीं। एक में कर्ता का नाम देवसेन पाया जाता या इसलिये हम इसे दे, प्रति कहेंगे। इसी पर से ह. अर्थात् हृदयसंग्रह की वह प्रति तैयार हुई जिसमें म्यारह दोहे और जुड़ गये तथा जिसपर से संवत् १७८० में हमारी क. प्रति तैयार हुई। दूसरी प्रति में परमात्मशक्ताचा की भाषा व सून्द के साम्य पर से अन्ध के कर्ता का नाम योगीन्द्रदेव जुड़ गया था। हममें दोहों की संख्या २२४ थी। हमें हम यो. कहेंगे। इसी पर से हमारी क. प्रति तैयार हुई होगी। हम कह चुके हैं कि क. प्रति के पाठ क. से बहुत कुछ भिलते हैं अतएव इसका ह. से भी कुछ सम्बन्ध ज्ञात होता है। तीसरी प्रति में दोहों की संख्या २२३ या २२४ थी छिन्नु कर्ता का नाम कोई भी नहीं पाया जाता या दोहे हम वि. प्रति कहेंगे। इस पर से हमारी पांच प्रतियां (ज, प, द, प २ और भ २) तैयार हुई प्रतीत होती हैं। प. प्रति गुजरात में मलिमूषण के शिष्य लक्ष्मण ने सं. १५५५ में लिखाई। आगे चलकर ये ही लक्ष्मण लक्ष्मीचन्द्रके नाम से मलिमूषण के उत्तराधिकारी

हुए। भ. प्रति के अनुसार उन्होंने इस मंथ की पत्रिका बनाई जो प. प्रति वर का दिप्पण ही ज्ञात होता है।

इसारा अनुमान है कि भ. प्रति वाले तीन अधिक देखे भी लक्ष्मीचन्द्रजी के ही बनाये हुए हैं। इस प्रकार उनकी लैबर की हुई (ल.) प्रति में २२७ दोहों होगये, जिस पर से २२७ दोहों वाली हमारी तीन प्रतियाँ [भ ३, प ३, प ४] लैबर हुईं। भ. प्रति में तीन अधिक देखे हैं, योगीन्द्रदेव मूळ प्रन्यकार कहे गये हैं तथा २१९ वाँ दोहां नहीं है। अतः उसका सम्बन्ध ल. वा. और ज. हीन प्रतियों से था। इस परम्परा को इस वृक्ष द्वारा और भी स्वष्टता से व्यक्त कर सकते हैं। जिन प्रतियों के नाम के साथ * यह चिन्ह है वे अबतक मिली नहीं हैं।

लूल [दि. नं १९७]



एक प्रश्न और है जिस पर भी यहाँ कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। दोहा नं. २२२ में जो कुछ कहा गया है उससे शात होता है कि उसके ऊपर के दोहों की संख्या मूलतः २२० थी। यद्यपि अ. प्रति में 'विशुतहृ' की जगह 'वाविशुतहृ' पाठ है पर वह स्पष्टतः कल्पित है। अब प्रश्न यह है कि वह कौन सा दोहा है जो मूल में नहीं था तथा जिसके कारण हमारे दोहों की संख्या २२० की जगह २२१ होगई है। जैसा ऊपर कह आये हैं, ज. और भ. प्रतियों में दोहा नं. २१९ नहीं है। क्या वही दोहा पछि का जोहा हुआ है? वह दोहा इतना सुन्दर तथा अंथकार की शैली के इतना अनुकूल है कि उसे ग्राहित मानने को जी नहीं चाहता यद्यपि दोहा नं. २२१ की प्रथम पंक्ति प्रायः वही होने से यह भी संभव जान पड़ता है कि वह प्राक्षेप हो। इसका यथार्थानुर्भव कर निकालना बड़ा कठिन है और इसकी कोई वही वावदयकता भी प्रतीत मन्त्र होती। भर्तृहरि आदि कुत्त शतकों में प्रायः सौ से अधिक हीं दोहे पाये जाते हैं।

४ भाषा और व्याकरण.

प्रस्तुत ग्रन्थ धार्मिक उपदेश तथा सूक्ति की दृष्टि से तो सुन्दर है ही पर उसका और भी विशेष महत्व उसकी भाषा में है। ऐन भंडारों की सूचियों में इस भाषा के प्रन्थ प्रायः 'मागधी भाषा' के नाम से दर्ज किए हुए मिलते हैं किन्तु यह भाषा न तो मागधी है और न दत्तय शैरलेनी आदि प्राचीन प्राकृत। किन्तु इन प्राकृतों ने प्रवालित देखी भाषाओं के पूर्व जो रूप धारण किया था वही इन ग्रन्थों में पाया जाता है। यह उनका विकसित या अपन्ना रूप है और इसी से इस भाषा का नाम अपन्ना या अवहृता पड़ा। आकृत व अपन्ना भाषायें समय समय पर जनसाधारण की भाषायें रही हैं और दूसीलिये वे अपने अपने समय में संस्कृत से भी अधिक मधुर और प्रिय गिनी जाती थीं। कर्मूरमज्जरी के कर्ता राजशेखर

के संस्कृत और प्राकृत की रचना के माध्यमें उतना ही अन्तर दिखता था जितना पुरुषों की कर्मशता और लिखियों की सुकुमारता में। उन्होंने कहा है—

पदसार सकथवंधा पात्र अवंधो यि होइ सुउमारो ।
पुहसमहिलाण्ड जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिथमिमाणम् ॥

[कर्पूर- १, ६]

विद्यापति ठाकुर को देखी अर्थात् अपब्रंश भाषा माध्यमे में संस्कृत व प्राकृत दोनों से बड़ी चढ़ी दिखने लगी थी। उन्होंने अपनी ' कीर्तिलता ' में कहा है—

सकथवाणी वहुव न भावइ
पात्र रस को ममम न पायइ ।
देसिलवाना सब जग मिढ़ा
तै सैसन जग्यओ अवहङ्ग ॥

१०. वी ११ वीं शताब्दि के लगभग यही भाषा उमस्त उत्तर भारत में प्रचलित थी किन्तु देश भेद के अनुसार उसमें भेद थे। प्रस्तुत अन्य मालया प्रान्त में लिखा गया है अतएव इसमें पश्चिम देश की अपब्रंश भाषा पाई जाती है जिसका व्याकरण हेमचन्द्राचार्य ने अपनी प्राकृत व्याकरण में अच्छी तरह, खब उदाहरणों सहित, दिया है। इसमें ' णायकुमार-चरित्र ' की भूमिका में इस भाषा के व्याकरण का सुविलतर परिचय कराया है, किन्तु प्रस्तुत अन्य के पठन पाठन की सुविधा के लिये इसी अन्य पर से कुछ व्याकरण यहाँ भी दिया जाता है।

हिन्दी भाषा के राहित्य व इतिहास में इस भाषा के अन्यों का क्या स्थान है यह सुर्यष्ट करने के लिये हिन्दी साहित्य के तीन प्राचीन अन्यों—पृष्ठीराजराजो, वीसिलदेवराजो और कीर्तिलता—से इसकी कुछ स्थूल रूप से यहाँ तुलना की जाती है—

१. कीर्तिलता में भैथिल देश का अपश्रंश है जो मारधी प्राकृत से निकला हुआ है अतः उसमें व, वा और ष, चण्ठ तथा श्र, द्व आदि संयुक्तास्तर पाथे जाते हैं। सावयधन्म का अपश्रंश महाराष्ट्री प्राकृत का है अतः उसमें इन चण्ठों का अभाव है।

२. कीर्तिलता में शब्दों के बीच में आये हुए अल्पप्राण वण्ठों—क, ग, च, ज आदि—वा महावा लोक लही हुआ। सावयधन्म में यांवेक्तः हुआ है और उनके स्थान पर फही कही च शुति पाई जाती है।

३. कीर्तिलता में परसर्गी का बहुत सूक्ष्म प्रादुर्भाव हुआ दिखाई देता है और प्राकृत विभक्तियाँ प्रायः उठ गई हैं। चीसल्लदेवराचो व पृथ्वीराजरासो में कहीं कहीं परसर्गी और कहीं कहीं संयोगात्मक विभक्तिरूप, प्रायः देवनों अवस्थायें पाई जाती हैं। सावयधन्म में विभक्तियाँ कायम हैं यद्यपि उनकी जड़ उखड़ चली है। किन्तु परसर्गी का विकाश केवल वष्टी के साथ 'तण', व सप्तमी के बोध के लिये 'मणिष' में कुछ र दिखाई देता है।

४. उक्त तीनों ग्रन्थों में मुसलमानी भाषा के संसर्गी का प्रभाव है जैसा कि चन्द्र वरदाई ने स्पष्टरूप से स्वीकार किया है—

‘एद् भाषा पुराणं च कुरानं कथितं मया।’

प्रस्तुत प्रन्थ में मुसलमानी संसर्गी की गंध तक नहीं है। उसमें पुराण सूक्ष्म है कुरान विलक्षुल नहीं।

अपश्रंश भाषा के ग्रन्थ का अनुवाद करने में मुझे एक और बात का अनुभव हुआ जिसे यद्यां प्रकट कर देना उचित जान पड़ता है। संस्कृत के अनेक क्रियापद ऐसे हैं जो अपश्रंश में पाथे जाते हैं और ब्रजभाषा आदि पुरानी हिन्दी में भी अहुत कुछ प्रचलित थे किन्तु जो प्रचलित खड़ी बोली में से लुप्त हो गये हैं। उनका अर्थ अक्षर करने के लिये अब हमें उनके भूतकालिक कृदन्त व विशेषण या संज्ञायें बनाकर 'होना' व 'करना' किया के साथ उनका उपयोग करना पड़ता है। उदाहरणार्थ—

संस्कृत	अपभ्रंश	पुरानी हिन्दी	प्रचलित रूप
नमति	नमह	नमता है	नमन करता है
नश्यति	नस्सह	नसता है	नश होता है
प्रकाशते	पयासह	प्रकाशता है	प्रकाशित होता है
मलिनायते	मद्देह	मैलता है	मैला होता है
भक्षति	भक्खह	भखता है	भक्षण करता है
वारयति	वारह	वारता है	वारण करता है
प्रकटयति	पयहह	प्रकटता है	प्रकट होता है।

ऐसे उदाहरण अनन्त हैं। यह मुख्य भाषा में उत्तरि की जगह अवनति का लक्षण दिखता है। कियापदों का ऐसा घटना नहीं बहुत चाहिये था। मेरी समझ में ऐसे कियापदों का हिन्दी में प्रयोग प्रारंभना चाहिये।

व्याकरण

१. साध्यधन्म की अपभ्रंश भाषा में देवनागरी वर्णमाला के स्वरों में ऋ, ऐ व औ तथा व्यञ्जनों में ङ, अ, श और ष को छोड़ कर शेष सब वर्ण पाये जाते हैं। न की स्थिति कुछ अनिवित रूप दिखती है। अधिकतः उसके स्थान पर ण ही मिलता है। प्रस्तुत संस्करण में सर्वत्र ण ही रखा गया है।

उपर्युक्त वर्णों के स्थान में निम्न लिखित आदेश होते हैं।

ऋ के स्थान में अ, इ व या रि। यथा, कथ-कृत, धय-घृत, असिल-अमृत, किविण-कृष्ण, विय-घृत, मुथ-मृत, रिसि-कृषि इत्यादि।

ऐ के स्थान में इ, यथा, विजावच-वैयाकृत।

ओ के स्थान में ओ या अठ। यथा, ओसह-ओषध, ओर-चौर, मठण-मौन।

व व च के स्थान पर स । यथा, सोह—शोभा, कलाय—कलाय, देस—देश ।

ल् व अ के स्थान पर सर्वव अनुस्वार का उपयोग किया जाता है

संस्कृत भाषा के शब्द यहाँ प्रथमः विकृत अवस्था में पाये जाते हैं । शब्द के मध्यवर्ती व्यञ्जनों में निम्न प्रकार विकार होते हैं—

अल्पप्राण व्यञ्जन का लोप व कहाँ कही उसके स्थान पर य अथवा व का आदेश । यथा, वयण— वचन, पयासिथ— प्रकाशित, संखिष— संक्षिर, छेय— छेद, घय— घात,

महाप्राण व्यञ्जनों के स्थान पर ह आदेश होता है । यथा, सुह— सुख, आह— अघ, उहय— उभय, दहिमहिथ— दधिमचित, महु— मधु, मुत्ताइल— मुखाफल,

कहो यही म के स्थान में व और व के स्थान में म पाया जाता है । यथा, रामण—राङण, मुवण— मुमनस् ।

य के स्थान में ज पाया जाता है । यथा, जुय—युग, जस—यशः, जाण—यान ।

संयुक्ताक्षर से प्रारम्भ होने वाले शब्दों में संयोग के दूसरे वर्ण का लोप कर दिया जाता है । यथा, वय— वत, तिहुयण—त्रिसुवन, वसण—व्यसन सावय— आवक, साइ—स्वाति । शब्द के क्षेष भाग में अस्वर्ण संयोग स्वर्ण संयोग में परिणत कर दिया जाता है । यथा, दुद्ध— दुर्ध, कण्यरु— कल्पतरु, कक्षस—कर्कश, सुक्क—शुक्क, जुत्त— युक्त, णिष्कल— निष्कल, जण— अन्य ।

कुछ संयुक्ताक्षरों के स्थान पर विशेष वर्णों का आदेश होता है । यथा—

क्ष— कव, ख या छ, पच्चक्ष— प्रसाक्ष, पेखण— प्रेक्षण, खम— कमा, छण— क्षण ।

रध— उर, ढज्ज— दरध ।

त्य- च्छ, भिद्धत्त- भिद्धत्व ।

त्य- च्छ, सच्चव- सञ्ज, चत्त- श्वर, विज्ञ- वच्च- वच्चावृत्य ।

च्छ- च्छ, सांख्यज्ञ- सांख्य, मज्ज- मद्य, जूथ- यूत ।

ध्य- उक्ष, मज्जित्तम- अप्पुइ, लाउङ्गनसाथ- आयन्हीय,
सुउङ्गाय- स्नान्याय ।

छ्य- छ्छ, छुणि- छनि ।

पस- च्छ, अच्छर- अप्परम् ।

स्थ- ठ, ठाइ- स्थाति, थट्टु- अस्थि ।

स्ना- एंद्र, पूष्ण- स्नान

२. संश्ला

अधिकांश संश्लायें अकारान्त पाई जाती हैं । हल्कत संश्लभों के अन्तर्व्यंजन का लोप करके वे अकारान्त बना ली गई हैं, सथा, जग-जगत्, तम-तमरा । द्विवचन बहुवचन में गर्भित हो गया है ।

कारकरचना

एकवचन

विभक्ति उदाहरण

कर्ता	उ दुज्जनु, अभिड, वासरु, कंज्जु, सुहु, दुल्हु, कंच्चु,
कर्म	उ धम्सु, पंचगुरु, दंसणु, णेहु.
करण	ऐं संखेवें, सम्मतें, संगें, णाइकें. एण कच्चेण, सण्णासेण, पावेण. हैं मरयहैं, उवएस्सहैं कारणहैं हूण समिण, जिल्हण, अङ्गूण.

बहुवचन

विभक्ति उदाहरण

अ	णर, सण्प, वय, तस.
---	----------------------

अ	दायार, णर, सुर.
---	-----------------

सम्प्रदान	हु	गरजहु, गोत्तहु, गिलाणहु.	हं	पताहं, चोरहं, जीवहं.
	हि	मुणिहि.		
अपादान	हु	सायहु.	हं	पंचुनरहं.
सम्बन्ध	हु	जूयहु, तिमिरहु.	हं	चोरहं, वणगरहं,
	हि, हि	सूरिहि, समिरहि, ससिहि.		धग्घहं, भीवरहं.
अधिकरण	ह	जनि, मणुयत्तणि, अंधारहं,	हं	सरतरहं, गुफहं.
		लोह, घरि.		
सम्बोधन	अ	जिय, वड, गिलज.		

आकाशमत ये इकारान्त खीलिंग शब्द बहुधा हस्तान्त कर दिये जाते हैं, यथा, दय-दया, कह-कथा, वेष्ण-वेदना, भेरि-भेरी.

किन्तु वेषा, चौरी एवं भी पानी जैसे हैं कर्ता न कर्ता कारन में ये प्रकृतस्य ही रहते हैं। शेष कारकों में पुलिंग से कोई बद्धी विशेषता नहीं पाई जाती।

नयुतक लिंग का लोप सह होता हुआ दिखता है। शेष कारकों में तो इनका कोई विशेष चिह्न दिखाई नहीं पड़ता पर कहीं कहीं कर्ता बहुवचन में ये पद्धिनान पड़ते हैं, यथा, वसणहं, सिक्कावयहं.

३. सर्वनाम

कर्ता	हंड (अहम्, मैं हूँ), कोह, सोइ, सो, जे तं (भयुं,) एहु, इहु, एउ.
कर्म	ज, तं.
करण	पहं (त्वया, तूते), जेण, तेण.
सम्प्रदान	परं (तुभ्यम्, तुझको), तहु.
सम्बन्ध	जसु, ताङ्ग, ताहं.

३. संस्थायात्रक

- १ एहा
- २ दुष्टि, विष्टि
- ३ तिष्टि
- ४ चयारि
- ५ पैत्र
- ६ छह
- ७ सत्ता
- ८ अठु
- ९ णव
- १० दस
- ११ एवारह
- १२ बारह

पूरणार्थक

- | |
|---------------|
| पडमउ, पहिलेउ. |
| बोयउ, चिदिउ. |
| तिउजउ |
| चरसु |
| पैचगु |
| छटुउ |
| सत्तगु |
| अठुसु |
| णवमउ |
| दसमउ |
| एवारहमउ |

५. क्रियापद

क्रियाओं में परस्मैपद आत्मनेपद व भ्यादि अद्यादि का कोई भेद नहीं रहा। हिंदूवन बहुवचन में गमित हो गया है।

वर्तमानकाल

एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
प्रत्यय	उद्धाहरण	प्रत्यय	उद्याहरण
उत्तम पु. मि, डं	अवस्थिमि, करहे.
मध्यम पु. हि, सि	अहिलसहि, डरहि,		
	चाहहि, होसि.
अन्य पु. इ	होइ, पिछइ, घरह, करह,	अंते, जंति, विपर्दति,	
	बंदइ, पालइ, पियह,		हुंति, हर्वति
	हृणइ.		गिति, भणंसि.
		आइ	सप्तज्ञाइ.

भूतकालिक क्रिया का कार्य ग्रायः भूतकालिक कुदन्तों से निकाला जाता है। क्रिया का उदाहरण केवल एक मिल सका है, आखी-आरात्।

भविष्यत्काल की क्रियाओं के उदाहरण में बहुत थोड़े मिलते हैं, जाहि- आस्यसि (तू जायगा), फलहि- कलिष्यन्ति (फलेगे), कुणहि- करिष्यन्ति (करेगे), होसि- भविष्यसि.

आदेश सूचक मध्यम सु. दि देहि, गोवहि, छेडहि, णिवारहि.

हु रक्खहु,

इ करि, छेषि, परिहरि, गुणि, मणि, य बेलि,
उ पिल्लु.

अन्य सु. उ अच्छर, आउ, जाड़.

विधिसूचक- ठेह, एगेह.

कर्मणि ग्रायोग- दिजहि, सुजिजहि, छहिजहि, रक्खुजहि.

प्रेरणार्थक- कारयहि, लट्टावहि.

वर्तमानकालिक कुदन्त-थेत- ढज्जत, सिचेत, करेत, लीँडिग-उत्तारति.

भूतकालिक कुदन्त- थ, इथ, इय- हुअ, मुक, गालिअ, भास्यस्थ,
कहिय, छाड़िय, उण्डाकिय।

पूर्वकालिक अडयय- एगिणु- पणयेपिणु (प्रणमकर), इय- इष्टिय, मणिथ,
विगासिय; इवि- मुक्किवि, खंडिवि, सुंजिसि, विहिवि.

क्रियार्थ क्रिया- (डुमन्) इवि- फहिवि ण सकह, कथयितुं न शकोति।

६. अव्यय

समयसूचक- अज्ञु, कलि, संपद, जाम।

स्थानसूचक- इथु, थेतरि, बाहिरउ, जहि-तहि।

प्रकार सूचक- जह-तह, जेम, केम।

अन्य- ण, गज, ण हु, विण, जह, सह, गिरारिउ, अद्वा, पुणरवि।

सावयधम्मदोहा

ॐ

णमकारेपिण पंचगुरु दूरिदलियदुहकम्मु ।
 संखेवे पयडब्बखरहिं अक्षमि' सावयधम्मु ॥ १ ॥
 हुजणु सुहियउ होउ जगि मुयणु पयासिउ जेण ।
 अमिउ विसें वासरु तमिँै जिम मरगउ कच्चेण ॥ २ ॥
 जिहै समिलहिं सावर्गयहि दुङ्गहै ज्यरहू रथु ।
 तिहै जीवहं भवजलगयैहं मणुयसैणि संवंधु ॥ ३ ॥
 हुहु सारउ मणुयत्तणहै तं सुहु धम्मायत्तु ।
 धम्मु वि रै जिय तं करैहि जं अरहंतैहु बुत्तु ॥ ४ ॥
 अरहंतु वि दोसहिं रहिउ जसुं पुण्यकेवलणाणु ।
 णाण्यमुणियकालत्तयहै वयणु वि तासुं पमाणु ॥ ५ ॥

१ द. अकिलय. २ क. जमहं; ज. द. तमहिं. ३ द.
 मरगय. ४ ज. जह. ५ क. ज. द. समिला. ६ अ. सावरे.
 ७ ज. दुलहउ. ८ क. जूबह; द. जूअहिं. ९ ज. तह. १० ज.
 गयहिं. ११ क. मणुवत्तणु. १२ अ. द. अटि. १३ ज. वरहि.
 १४ अ. द. अरहंतै. १५ क. द. जासु वि. १६ अ. ज. णाणु.
 १७ क. द. तस्स.

हिन्दी अनुवाद

१. प्रमुखकामों का नाश करने वाले एवं गुरुओं को नमस्कार करके मैं संक्षेप में, प्रकट शब्दों द्वारा, आधक-धर्म का व्याख्यान करता हूँ।
२. दुर्जन संसार में सुखी होवे जिसने सज्जन को दुर्जन को अशीष प्रसिद्ध किया है, जिस प्रकार अमृत विवसे, दिन अधकार से, व मरकत मणि कांच से [प्रकाशित होता है]।
३. जिस प्रकार सागर में गिरे हुए सैले के लिये ऊँचा पर्वत जग का छिद्र हुआ है उसी प्रकार भव-जल में पड़े हुए जीवों का मनुष्यत्व से सम्बन्ध हुआ है।
४. मनुष्यत्व का सार सुख है। वह सुख धर्म के अधीन है। धर्म भी, रे, जीव, वह पाल जो अरहंत का कहा हुआ है।
५. अरहंत भी वह है जो देखों से रहित हो व जिसे प्रामाणिक ज्ञान के बल ज्ञान हो। ज्ञान द्वारा चिकाल को जानने वाले उनके बचन भी प्रमाण हैं।

तं पायदु जिणवरवयणु गुरुउवएसई होइ ।
 अंधारई विणु दीवडई अहव कि पिछइ कोइ ॥ ६ ॥
 संजग्नु सीलु सडच्चु तड जगु श्रिहि गुरु सोइ ।
 दाहछेयकसधायखगु उच्चमु कंचणु होइ ॥ ७ ॥
 मग्नाई गुरुउवएसियई णर सिचपटुणि खंति ।
 तं विणु वग्धहं वणयरहं चोरहं पिडि विष्ठंति ॥ ८ ॥
 एयारहविहु तं कहिउ रे जिय सावयधम्मु ।
 सत्तिए परिपालंतयहं सहलउ मणुसजम्मु ॥ ९ ॥
 पंचाणुव्यय जो धस्ड णिम्मल गुणवय तिणि ।
 सिक्खाचयहं चयारि जगु सो बीयउ मणि मणि ॥ १० ॥
 चउरठहं दोसहं रहिउ पुच्चाइरियकमेण ।
 जिणु वंदइ संदइ तिहि मि सो तिङ्गउ णियमेण ॥ १२ ॥

१ अ. ज. द. उच्चपत्ते. २ द. वीविहण. ३ ज. द. ति.
 ४ ज. द. अरे. ५ अ. अहुड पालह मूलगुण. ६ अ विसणु.
 ७ अ. क. जो सम्मसन्निखुँ. ८ ज. मणु. ९ द. वय गुण.
 १० द. णियमणि.

६. वह जिनवर का बचन गुरु के उपदेश से प्रकट होता है। अंधकार में विना दीपक के क्या कोई कुछ पहिचान सकता है?
७. जिस सूरि में संयम, शील, शौच और तप है वही गुरु है। दाह, छेद और कशा-शात के बोग्य ही उत्तम कंचन होता है।
८. गुरु के उपदिश मार्ग से नर शिवपुर को जाते हैं। उसके बिना वे व्याघ, वगन्चर और चोरों के गिरे में पड़ जाते हैं।
९. वह आवक धर्म, हें जीव, म्यारह प्रकारका कहा गया है। शक्तिनुसार उसका परिपालन करने वालों का मनुष्य-जन्म सफल है।
१०. जिसके पंच उद्गवर से निवृत्ति है, व्यखन एक भी नहीं है तथा जिसकी मति सम्यक्त द्वारा सुविशुद्ध है वह प्रथम आवक है।
११. जो पांच अणुवत्तों को धारण करता है और जिस के तीन निर्भल गुणवत और चार शिक्षाप्रबन्ध हैं उसे मनमै दुसरा [आवक] मानो।
१२. जो पूर्वाचार्यों के ब्रह्माभुखर बच्चीस दीर्घों से रहित होकर तीनों संध्याओं में जिनदेव की बन्दना करता है वह नियम से तीसरा [आवक] है।

उहयचउदसिअद्वमिहि जो पालइ उववासु ।
 सो चउत्थु सावउ भणिउ दुक्कियकन्मविणासु ॥ १३ ॥
 पंचमु जसु कचासणहं हरियहं पाहि पवित्रि ।
 भणवयकायहि छड्यहं दिवसहि णारिणिवित्ति ॥ १४ ॥
 चंभयारि सचमु भणिउ अद्वमु चत्तारझु ।
 मुकपरिगमहु जाणि जिय णवमउ चज्जियदंसु ॥ १५ ॥
 अणुमइ देइ णे पुच्छियउ दसमउ जिणाउबइहु ।
 एयारहमउ तं दुविहु णे चि सुंजइ उदिहु ॥ १६ ॥
 एयवत्थु पहिलउ विदिउ कयकोवीणपवित्रि ।
 कत्तरिलोयणिहियचिहुर सई शुणु भोजणिवित्रि ॥ १७ ॥
 ए ठाणहं एयारसैंहं सम्मचें मुकाहं ।
 हुंति ण पउमई सखरहं विणु पाणिय सुकाहं ॥ १८ ॥
 अत्तामतचाइयहं जं णिमलु सद्वाणु ।
 संकाइयदोसहं रहिउ तं सम्मतु वियाणु ॥ १९ ॥

१ ज. द. "इंमु. २ ज. गु. ३ द. णउ. ४ द. पहलउ.
 ५ ज. द. एयारहं वि. ६ क. द. ७. णिमलु सद्वाणु. ७ अ.
 क. विग्राण.

- १३.** प्रेषभोजवास जो दोनों चतुर्दशी और अष्टमी को उपहास पालता है वह दुष्कृत-कर्मों का विनाश करने से याला वौथा श्रावक कहा गया है।
- १४.** सचित्तलग्न पांचवाँ [श्रावक] वह है जिसकी कष्टे भोजन व हरी शर्क में प्रवृत्ति नहीं है। छठवाँ [श्रावक] की दिन में मत बचन और काय द्वारा नारी से निवृत्ति रहती है।
- १५.** ब्रह्मचर्य, आरम्भ-लाग और परिप्रहल्याग सातवाँ [श्रावक] ब्रह्मचारी कहा गया है। आठवाँ आरम्भल्यागी है। हे जीव, परिप्रह से मुक्त, दम्भ से वर्जित रहने वाले को नवमाँ [श्रावक] जानो।
- १६.** अनुमतिलाग और उद्दीष्टलाग जो पूछने परभी असुमति न दे उसे जिन भगवान् ने दशवाँ [श्रावक] कहा है। न्यारहवाँ दो प्रकार का है जो उद्दिष्ट भोजन नहीं करता।
- १७.** क्षुब्ध और ऐलक पहिला एकवर्खधारी, दूसरा कोणीनमात्रधारी। वह केवी या उस्तरे से केशों को कटवाता है और स्वयं भोजन नहीं बनाता।
- १८.** सम्यक्त्व ये न्यारह स्थान सम्यक्त्व से रहित जीवों के नहीं होते। विना पानी के सूखे सरोबरमें कमल नहीं फूलते।
- १९.** सम्यक्त्व लक्षण आप्त, आगम और तत्त्वाविकों में जो शंकादिक दोषों से रहित निर्मल अस्तान है उसे ही सम्यक्त्व जानो।

संकाइय अङ्गड मय परिहरि^१ मूढा तिणि ।

जे छह कहिय आणायतण दंसणमल अवगणि ॥ २० ॥

सुणि दंसणुं जिय जेण विणु सावयगुणु ण हुै होइ ।

जह साभग्निविवजियहं सिजहइ कजु ण कोइ ॥ २१ ॥

मजु मंसु महु परिहरहि करि पंचुबर दूरि ।

आयेहं अंतरि अङ्गेहं मि तस उप्पर्जई भूरि ॥ २२ ॥

महु आसायउ थोडउ वि णासइ पुणु बहुतु ।

वइसाणरहं तिडिक्केडउ काणणु डहइ महेतु ॥ २३ ॥

अँणुवइडहं भणियहं महु परिहरियउ होइ ।

जे कीरइ तं कारियह एहु अहाणउ लोइ ॥ २४ ॥

सैच्चहं कुसुमैहं छंडियहं कैरि पंचुबरचाउ ।

हुंति विमुक्तइ मंडणहं जह मुकउ अणुराउ ॥ २५ ॥

१. अ. क. प. परिहर. २. ज. दंसण; अ. क. द. दंसण.
३. अ. क. वि. ४. द. आयहि. ५. अ. क. अटुमि हि. ६. अ. ज.
द. उप्पज्जहि. ७. अ. क. आसाइह. ८. अ. क. थोबड वि. ९. ज.
द. तिडिक्कउ वि. १०. अ. द. अणु उवाहुं. ११. अणउवाहुं.
१२. अ. क. ज. द. सभगहं. १३. द. कुसुमिय. १४. अ. क. ज. द.
पंचुबरपरिचाउ.

२०. शंकादिक आठ (दोष), आठ मद और तीन मूढ़ता दोष, मद, भूड़ता का परिहार करो। जो लह अनायतन कहे गये हैं और अनायतन उन्हें (सम्यग्) दर्शन के मैल जानो।

२१. हे जीव, (सम्यग्) दर्शन को सुनो जिसके बिना गम्यादर्शन श्रावक का गुण नहीं होता। जैसे सामग्री से विच-
ित्रित मनुष्य का कोई भी कार्य नहीं संधता।

२२. मद्य, मांस, मधु का परिहार करो, पंच उदुम्बर अल्पुलगुण दूर करो। इन आठों के अन्दर बहुत श्रस (जीव) उत्पन्न होते हैं।

२३. मधु थोड़ासा भी खाया हुआ बहुतसे पुण्य का नाश कर देता है। अग्नि का छोटासा तिलिंग भी बड़े भारी बन को ढा देता है।

२४. दूसरों को उपदेश देने व स्वयं मानने से मधु का परिहार होता है। जैसा (स्वयं) करता है वही (दूसरोंसे) करता है यह अहाना लोक मैं है।

२५. सब फूलों को छोड़कर पंच उदुम्बर का त्याग कर। उदुम्बर-त्याग यदि अनुराग छूट गया तो अलंकार [आपही] छूट जाते हैं।

अद्वैत पालइ मूलगुण पियइ जि गालिउ णीरु ।
 अह चित्ते सुचिसुद्वैषण सुचइ सच्चुं सरीरु ॥ २६ ॥
 जेण अगालिउ जलु पियउ जगणिजइ ण पवाणु ।
 जो णं पियइ अगालियउ सो धीवरहं पदाणु ॥ २७ ॥
 अमिसंसरिसउ भासियउ सो अंधड जो खाइ ।
 दोहि छहुत्तहं उप्परहि लोणिउ सम्मुच्छाइ ॥ २८ ॥
 संगे मज्जामिसरयहं मइलिजइ सम्मतु ।
 अजणामिरिसंगे ससिहिं किरणइ काला हुंति ॥ २९ ॥
 अच्छउ भोयणु ताहं घरि मिढहं वयणु ण जुनु ।
 ताहं समउ जें कारणइ मैदलिज्जइ सम्मतु ॥ ३० ॥
 तामच्छउ तैठर्यडयहं पक्षासणलित्ताहं ।
 हुंतिैं ण जुगहं सावयहं तहं भोयणु पत्ताहं ॥ ३१ ॥
 चम्मच्छइ पीयइ जलइ तामच्छउ दैरण ।
 दंसणसुद्विै ण होइ तसु लद्वै धियतिलेण ॥ ३२ ॥
 रुहिरामिसचम्पादिसुर पञ्चकखउ बहुजंतु ।
 अंतराय पालउै भविय दंसणसुद्विणिमित्तु ॥ ३३ ॥

१ अ. अहुड. २ ज. द. जु. ३ क. द. सच्च. ४ अ. ज.
 द. त. ५ क. भयलिज्जइ. ६ ज. तहं तंडयहं. ७ अ. क. द. तउ
 भंडयहं. ८ अ. क. हौंति. ९ ज. द. पञ्चमिक्षउ. १० ज. द. पालहि.
 ११ क. "महंतु.

२६. आठों मूलगुणों का पालन करे और गाला (ज्ञाना) चित्तशुद्धि हुआ जल पिये । चित्त के विशुद्ध होने से सब शरीर शुद्ध हो जाता है ।
२७. जिसने विना छना पीनी पिया उसने प्रमाण नहीं विना छना पानी जाना । जो विना छना पीता है वह धीवरों में प्रथान है ।
२८. दो मुहर्त के ऊपर लोनी (मक्ष्यन) में समूर्छन मक्ष्यन जीव उत्पन्न हो जाते हैं । (इसलिये) वह मांस सदृश कहा गया है । वह अंधा है जो खाय ।
२९. मध्यमांस में रत रहने वालों के संग से सम्बन्धित मध्यमांसभौजीका संग मैला हो जाता है । अंजनगिरि के संग से चन्द्र की किरणें भी काली हो जाती हैं ।
३०. उनके घर में भोजन करना तो रहा शिष्ट लोगों गयगांप गोजिवों को उनसे बात भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि का परिहार उनके संग से सम्बन्धित मैला हो जाता है ।
३१. एक भोजन करने वाले तप से मंडित (मुनि) तो दूर रहे उम्कार भोजन पाव्र श्रावकों के भी योग्य नहीं है ।
३२. जो चर्मच्छादित जल पीता है उसकी तो दूरकी चर्मच्छादित बात है, दर्शन शुद्धि तो उसके भी नहीं होती जो जल, धून, दैल (धैसे) धी-तेल सहित खाता है ।
३३. रुधिर, मांस, चर्म, अस्थि और सुरा ये प्रत्यक्ष में ही अलगय योग्य यातुर्ण हैं । हे भव्य दर्शनशुद्धि के निमित्त इनका अन्तराय पालें ।

मूल-उणाली-भिसै-लहसुण-तुंवड-करड-कलिंगु ।

खरण फुलत्याणयहि भक्षणि दंसणैंभंगु ॥ ३४ ॥

अणु जि सुललिड फुलियड सायर्हु चलियड जं जि ।
दोदिणैवसियउ दहिमहिड ण हु भुजिजइ तं जि ॥ ३५ ॥

वेदलमीसिड दहिमहिड जुतु ण सावय होइ ।

खद्दइ दंसणभंगु पर सम्पतु वि मद्देइ ॥ ३६ ॥

तंबोलोसहु जलु सुइवि जै अत्थपिथहं द्वरि ।

भोग्गासणै फलु अहिलसिर्दं तें किउ दंसण दूरि ॥ ३७ ॥

जूरै धणहु ण हाणि पर वयहं वि होइ चिणासु ।

लग्गउ कहु ण डहइ पर इयरहं डहइ हुयासु ॥ ३८ ॥

जइ देखेवउ छाहियउ ता जिय छाउउ जूउ

अह अगिमहि उल्हाविथहं अवसै ण उङ्ग धूउ ॥ ३९ ॥

दय जि मूलु धम्मविवहु सो उप्पाडिउ जेण ।

दलफलकुमहं कवण कह आमिगु भविष्यउ तेण ॥ ४० ॥

१. अ. क. विस. २. क. भक्षण. ३. ज. दंसणि.
४. अ. ज. द. अणु. ५. ज. द. सुललिड. ६. अ. क. सायर्हु. ७. द.
दिणि. ८. ज. द. जो. ९. अ. भुग्गासणु; क. द. पुग्गासणफल.
१०. ज. द. आहिलसह. ११. अ. जूरै. १२. अ. क. जइ छुडिउ घड
देखिवउ. १३. क. ता छुडिउ तुदुं जूज. १४. अ. क. अवसि.

३४. मूली, उनाली (?) , चिस (कमलतनु), लहसुन, मूली आदि तुंबा, करड, कलिंग, सूरज व पूलस्थानी के भक्षण अमृत्यु से दर्शन भङ्ग होता है।
३५. अन्य भी जिसमें जड़े निकल आई हैं, व पूल अन्य अभक्ष्य आगये हों व जो स्वाद से बलित होगया हो, व दो दिन का वासा दही मही भी नहीं सामा आहिये।
३६. छिद्रमिथित दही मही श्रावकों के योग्य नहीं होता। इसके खाने से दर्शन का भङ्ग और सम्प्रकृत्व मैला होता है।
३७. रात्रिमोजन ताजूल, औपध और जल को छोड़कर, सूर्योत्तर के एश्वान् जिसने मोजन या फलाहार की अभिलाषा की उसने दर्शन को दूर कर दिया।
३८. शूत जुंबा से धन ही की हानि नहीं होती पर ब्रतों का भी विनाश होता है। अग्नि केवल जिस काठ में लगे उसे ही नहीं जलानी किन्तु दूसरों को भी ढा देती है।
३९. शूलस्थान यदि देखना तक छोड़ दिया तो, हे जीव, शूल सचमुच छुटा। अग्नि के जलसे शमन कर देने पर अवश्य छुआ नहीं उठता।
४०. दया दया ही धर्मशूल का सूल है। इसे जिसने उषाट ढाला उसने दल, फल, शुशुम की कौन कथा माँस भक्षण कर लिया।

पुष्टिमंसु जइ छहियउ ता जिय छहिउ मंसु ।

जहे अपत्तें वारियहं चारिउ वाहियवेसु ॥ ४१ ॥

सुहु वि लिहिवि सुत्तउ सुणहु एहुं जि मजहु दोसु ।

मत्तउ वहिणिहि अहिलसइ तें तहुं णरयपवेसु ॥ ४२ ॥

मजु मुकु मुकहं मयहं अणु जि वेसा मुक ।

जह वाहाहि विगिवारियहं वेयण होइण इक ॥ ४३ ॥

वेसहिं लगाइ धाणियधणु तुड्हइ बंधउ मित्तुं ।

मुच्चइ णरु सञ्चहं मुणहं वेसाघरि पइसंतु ॥ ४४ ॥

कामकहाई परिचलियहं जिय दारिय परिचत ।

अह कंदहं उपाडियहं वेल्हिहि पत सपत ॥ ४५ ॥

पारद्विउ परणिनिषणउ हणहं पिरारिउ जेण ।

भयभरगा जियगहियतण णरयहुं गच्छइ तेण ॥ ४६ ॥

मुक सुणहमंजरपमुह जइ मुकी पारद्वि ।

बीयहं रुद्धइ पाणियहं रुद्धी अंकुरलद्वि ॥ ४७ ॥

१ क. ज. द. जहिं. २ अ. क. द. मुत्तहं. ३ अ. ण हु
ण. ४ द. वहिणहि; अ. ज. वहिणि जि. ५ अ. क. तह. ६ अ.
क. मज्ज मुक. ७ क. द. ८ ह. ९ द. तुहुउ. १० अ. क. वधवमित्त.
११ अ. क. द. १२ अ. क. कामकहा. १२ ज. पारिद्विउ.
१३ अ. द्वाणिउ. १४ अ. क. पिरयहु.

- ४१.** पृष्ठमांस यदि छोड़ दिया तो, हे जीव, मांस मांसत्याग छोड़। जैसे अपश्य के निवारण से व्याधिप्रबंद्ध का निवारण हो जाता है।
- ४२.** बार बार लिख लिख कर इस सूत्र को सुनो। मथवेष मथ का यह दोष है कि मस (पुलार) अपनी वहिन की भी अभिलाषा करते लगता है इससे उसका नरक में प्रवेश होता है।
- ४३.** मद के छोड़ देने से मथ भी छूट जाता है और वेश्या भी छूट जाती है, जिस प्रकार कि व्याधि के निवारण हो जाने से एक भी वेदना नहीं रहती।
- ४४.** धनिकौर का धन वेश्या में लगता है। वंचु मिथ्र सब छूट जाते हैं। वेश्या के घर प्रवेश करने वाला नर सब गुणों से मुक्त हो जाता है।
- ४५.** कामकथा के परित्याग से, हे जीव, दारिका (वेश्या) का भी परित्याग हो जाता है। कंद के उषाट देने पर वेला के पत्र समाप्त हो जाते हैं (स्वयं सख जाते हैं)।
- ४६.** शिकारी बढ़ा निर्देशी है जो भय से भागे हुए, जीव में हुए दबाये हुए (मृगों) का बध करता है। इससे वह नरक को जाता है।
- ४७.** यदि शिकार खेलना छोड़ दिया तो कुत्ता चिह्नी अद्वि भी छूट गये। वीज में पानी की रोक कर देने से अकुरलाविधि का अवरोध हो जाता है।

चोरी चोर हणेह पर बहुयकिलेसहं खाणि ।
 देह अणत्यु कुडंबहं मि गोत्तद्वं जसधणहाणि ॥ ४८ ॥

मुकहं छटुलाहयहं चोरी मुकी होइ ।
 अह व वणिअहं छेडियहं दाणु ण ममगह कोइ ॥ ४९ ॥

परतिय बहुबंधण ण परे अणु वि णरयणिसेणि ।
 विसकंदलि घारह ण पर करह वि पाणहं हाणि ॥ ५० ॥

जह अहिलासु णिवारियह ता वारिह परयारु ।
 अह णाइके जित्तइण जित्तउ सथलु खंधारु ॥ ५१ ॥

वसणहं तावहं छेडि जिय परिहरि वसणासत्ते ।
 मुकहं संसग्मे हरिय पेक्खह तरु छज्ज्वतै ॥ ५२ ॥

मूलगुणा इय एतडहे^१ हियवह थक्कहं जासु ।
 धम्मु अहिंसा देउ जिणु रिसि गुरु दंसणुं तासु ॥ ५३ ॥

१ अ. द. कुडंबह. २ अ. क. गोत्तद्व. ३ क. छेडियह.
 ४ 'बहुबंधणणयर' भी पढ़ा जा सकता है । ५ क. णिरय^२.
 ६ ज. णि. ७ अ. क. इझें राथहं जित्तियहं. ८ ज. द. ताव छंड
 जिय. ९ अ. परिहरि. १० अ. क. प. वसणासत्ति. ११ अ. क.
 मुक्खहं. १२ क. द. छज्ज्वति. १३ अ. द. इत्तडह. क. उत्तडह.
 १४ क. थक्कह. १५ द. दंसण.

४८. चोरी चोर का तो हजन करती ही है पर और भी चोरी-दोष बहुत से लेशों की खानि है। वह कुदुम्ब का भी अनर्थ करती है और गोत्र के यश और धन का नाश कर देती है।
४९. कुटुलादि के छोड़ देने पर चोरी छूटती है। चोरी-त्याग वाणिज्य के छोड़ देने पर कोई दान नहीं मांगता।
५०. परखी बहुत बन्धन ही नहीं परन्तु वह नरक-परखी-दोष नसेनी भी है। विष-कंदली मूर्चिछत ही नहीं करती, किन्तु प्राणों की भी हानि कर डालती है।
५१. यदि अभिलाष का निवारण होगया तो परदारा परखी-त्याग का त्याग हुआ। नाथक के जीत लेने पर समस्त संघावार (सेना) पर विजय होजाती है।
५२. व्यसन तब छूटेंगे, हे जीव, जब व्यसनों में आसक्त अरानी मनुष्यों (मनुष्यों) का परिहार करे। सूखों के संसर्ग से, का परिहार देखो, हरे वृक्ष भी ढा जाते हैं।
५३. इस प्रकार ये मूल गुण जिसके हृदय में वास सम्बद्धीन की करते हैं, व जिसका धर्म अहिंसा, देव जिन और पूर्णा गुरु ऋषि है उसका [सम्बग्] दर्शन है।

जसु दंसणु तसु माणुसहै दोस पणासैइं जंति ।
 जैहि पणसि णिवसइ गरुहु तहि किं विसहर ठंति ॥ ५४ ॥
 दंसणरहिये जि तउ कैरहि ताहै वि णिकल णिड ।
 विणु बीर्यइं कणभरणमिथ भणु किं खेत्ती दिड ॥ ५५ ॥
 दंसणसुद्धिए सुद्रयहै होइ सयल वयणिड ।
 अह कप्पडि अणतोरियइं किम लगगइ मंजिड ॥ ५६ ॥
 दंसणभूमिहि बाहिरउं जिय वयस्कखण हुंति ।
 दिउ वयस्कखहै रुमखफल आवासहु व यहेति ॥ ५७ ॥
 छुइ दंसणै गहावरउ हियडहै णिचलु जाउ ।
 वयपासाउ समीदवहै चेचलु घणु जिय आउ ॥ ५८ ॥
 अणुवयगुणसिकखावथइं ताहै मि” वारह हुंति ।
 झुजाइवि णरसुरसुहै जिउं णिच्चाणहु णिति ॥ ५९ ॥

१ अ. क. वडौ. २ ज. माणु सुहु; द. माणसुहु ३ ज.
 पणासिथि; द. पणासवि. ४ अ. क. जिहि. ५ अ. क. जंति.
 ६ क. रहिउ. ७ क. करह. ८ ज. वीजहै. ९ ज. द. बाहिरा.
 १० अ. मोकखफल. ११ अ. क. लुण. १२ ज. दंसण. १३ हियडह
 १४ द. पासा उवसमि उवहु; क. पासहु व समटियहु; ज.
 पासउ वि समादवहु. १५ ज. जि. १६ क. जिय.

५४. जिसके दर्शन है उन नमूनों के देवताओं को जो दर्शन से दीप्ति प्राप्त होते हैं। जिस प्रदेश में गहड़ निवास नाश करता है वहाँ क्या विराघर ठहर सकते हैं?

५५. दर्शन से रहित लोकर जो तप करते हैं उनकी दर्शन के बिना निष्ठा निष्कल है। यिना धीज के, कहो, कहीं अन्त तप निष्कल है, के भार से चुकी हुई खेती देखी गई है?

५६. जो दर्शनशुद्धि से शुद्ध हुए हैं उनके सब वतों की दर्शनशुद्धि से निष्ठा होती है। यिना तुरटी (फिटकरी) लगाये वर्तनिष्ठा कण्डे पर मंजीठा का रंग कैसे चढ़ सकता है?

५७. दर्शनभूमि से वाहिर, हे जीव, वतरूपी बुश नहीं दर्शन के बिना होते, और यिना वतन्मुक्षों के लुखफल आकाश से सुख नहीं, तो पहुँचे नहीं।

५८. यदि दर्शन रूपी फलक हृदय में निष्कल होगया, दर्शन और सो उल्लपर वत रूपी पासौं को ढालो। फिर, हे पनागम, जीव, चंचल धन को आने दो।

५९. अणुवत, गुणवत और शिक्षावित सब मिलकर बारह वतों से बारह होते हैं। वे मनुष्य और देवलोक के सुखों सोक-प्राप्ति कर उपभोग करकर जीव को निर्वाण तक पहुँचा देते हैं।

मणव्यकार्यहिं दथ करहि जेम ण दुकह पाउ ।
 उरि सणाहें बद्धइण अवैसि ण लगगइ धाउ ॥ ६० ॥
 अलिय कसायहिं मा चवहि अलिएं गउ वसुराउ ।
 जहिं णिविदु साखेंडु तहै डालहै होइ पमाउ ॥ ६१ ॥
 णासइ धणु तसु घरदणउ जो परदब्यु हरेइ ।
 गेहिं कथेईउ पेसेयउ काइ य काइ करेइ ॥ ६२ ॥
 माणइं ईछिय परमहिल रामणु सीय विणदु ।
 दिड्हिहिं मारइ दिड्हिविसु ता को जीवइ दहु ॥ ६३ ॥
 पसुधणधणहै खेत्तियहै कैरि परिमाणपविचि ।
 बलियहै बहुयहै बंधणहै दुकरूं तोडहुं जंसि ॥ ६४ ॥
 भोगहं करहि पमाणु जिय इंदिय म कैरि सदण्ण ।
 हुति ण भल्ला पोसिया दुड्रे काला सण्णै ॥ ६५ ॥

१ अ. क. कायहै. २ द. कर. ३ अ. ज. द. अयस.
 ४ अ. क. णिविदु साखेंड, प. याखेंड. ५ क. द. तहिं. ६ क. द.
 डालहु. ७ अ. पणाउ; क. पसाउ. ८ ज. कवड्हउ. ९ ज. रामणु
 द. रामणसीय. १० अ. विणदु. ११ क. ग. करहि. १२ प.
 दुकर तोडहै; अ. क. तोडहै. १३ ज. करिसि दणु. १४ ज.
 सणु.

६०. मन, वचन और काय से दया कर जिससे पाप न १०५१
दया आवें। उर में कवच बंधने से अवश्य घाव तही
लगता।
६१. कपाय से असत्य मत बोल। असत्य से वसुराज १०५२
अलाल गया। जिस शास्त्र पर शाखारंड (द्वोही) वैठा
उस शास्त्र का सत्यानाश हुआ।
६२. जो परद्रुत्य का हरण करता है उसके पर का धर्म १०५३
चोरी भी नष्ट हो जाता है। गृह में फण्ट का प्रवेश
कराया। वह दया थया नहीं करेगा।
६३. माल के कारण पराई छी, सीता, की इच्छा करने
पर्णी से रावण का माश हुआ। दधिक्षिण (सर्प)
दधिमात्र से मर डालता है, डसे जाने पर तो कौन
जी सकता है।
६४. पशु, धन, धान्य, खेती इनमें परिमाण से प्रबृत्ति १०५४
परियह कर। वस्थनों में बहुत बल (आटे) होने से उनका
तोड़ना दुःकार हो जाता है।
६५. हे अवि, भेगों का भी प्रमाण रख। इन्द्रियों को
भेगों का बहुत अभिमानी मत बना। काले सांपों का दुष्प
प्रमाण से पोषण करना अच्छा नहीं होता।

दिसि विदिसिहि परमाणु करि जियवहु जायेह जेण ।
 मोकलियैह आसागयहं संजपु पलिउ तेण ॥ ६६ ॥
 लोहै लख विसु सणु भयणु दुडमरणु पतुभारु ।
 छंडि अणत्थहं पिडि पिडिउ किमि तरिहेहि संसारु ॥ ६७ ॥
 संशा तिहि मि समाइयैह उपजइ वहुण्णु ।
 कालि वरिझैह भंति कउ जैह उपजइ घण्णु ॥ ६८ ॥
 चिरकियकम्महं खेउ करह पञ्चदिणेहि उचवासु ।
 अहवा सोसइ सरसलिलु भंति ण गिमि दिणेसु ॥ ६९ ॥
 पत्तइ दिजइ दाणु जिय कौलि विहाणइ तं पि ।
 अह विहिविरहिउ वावियउ चीउ वि फलइ ण कि पि ॥ ७० ॥
 सण्णासेण मरंतयहं लब्धइ इच्छयलद्वि ।
 हत्यै ण कायउ भंति करि जैहि साहसु तहि सिद्धि ॥ ७१ ॥

१. ज. जाह्य, २. अ. द. मोकलियहि आसागयहि,
 ३. अ. लोह लाख, ४. अ. क. तरिहेसि; ज. तरिसहि, ५. ज.
 समाइयहं, ६. अ. वरिझूउ; क. वरिझूउ, ७. अ. क. द. जहिं,
 ८. ज. उपजइ बहु धम्मु; अ. धम्मु, ९. ज. क्षय, १०. अ. क.
 खय; ज. खइ, ११. अ. क. दिणह, ज. दिणहं, १२. अ. क. ज.
 कालविद्वाणै, १३. क. द. इरिश, १४. क. जह साहस तहि सिद्धि,

६६. दिवत द्विशा-विद्विशाओं (मैं जाने) का भी प्रमाण कर। इसले जीववध होता है। जिसने अशाओं मैं जाना छोड़ दिया उसने संयम का पालन किया।
६७. अनर्थसार लोडा, लाल, विष, सन, मैन, दुप्रभरण और पशुभार इनको छोड़। अनर्थों के पिंड में पहकर किस प्रकार संसार को तरेगा?
६८. सामायिक तीनों संध्याओं मैं सामायिक करने से बहुत पुण्य उत्पन्न होता है। यदि समय पर वर्षा होने से धान्य उत्पन्न हो तो इसमें आन्ति क्या है?
६९. पर्वी के दिन का उपवास चिरकाल के किये हुए कर्मों का क्षय करता है। श्रीष्म में सूर्य सरोवर के जल को खुला देता है, इसमें आन्ति नहीं।
- ७०, पात्रदान हे जीव, पात्रों को दान देना चाहिये, वह भी समय पर और विधि सहित। विना विधि के बोया हुआ बीज कुछ भी फल नहीं देता।
७१. सन्यास ले मरण करने वालों को यथेत्तु लाभ होता है, इसमें कुछ भी आन्ति न कर। जहाँ साहस तहाँ सिद्धि।

ऐ बारह वय जो करह सो गच्छइ सुरलोई ।
 सहसणयणु धरणिदु जहिं वण्णइ ताहि विभोडे ॥ ७२ ॥
 आउसंति सग्गहु चढवि उत्तमवंसहं हुति ।
 शुजिवि हरिवलचकिसुहु पुणु तवयरणु कर्ति ॥ ७३ ॥
 उकिछइ चिहिं तिहिं भवहि शुजिवि सुरणरसोवखु ।
 जंति जहण्णइ धुणियरर्य भेवि सचङ्गीग मोक्षु ॥ ७४ ॥
 संगचाउ जे करहिं जिय ताहि ण वय भजति ।
 अह कि लग्गहि चोरडा जे दूरे णासंति ॥ ७५ ॥
 एहु धम्मु जो आयरहै बंभणु सुहु वि कोइ ।
 सो सावड कि सावथहं अण्णु कि सिरि मणि होइ ॥ ७६ ॥
 मज्जु मंसु महु परिहरहै संपह सावडे सोइ ।
 णीरुक्खहइ एरड वणि कि ण भवाहि होइ ॥ ७७ ॥

१ क. ज. एयारह. २ ज. सुरलोइ. ३ ज. विभोइ.
 ४ अ. क. सग्गह. ५ क. °सुह. ६ द. तवयरणि. ७ क. द.
 सुक्षु. ८ द. धणियरया. ९ अ. क. भवसत्तद्वह. १० अ. क. द.
 अहव कि लग्गहि; क. लग्गह. ११ क. आयरहि. १२ क. द.
 सिरमणि. १३ क. द. परिहरहु; ज. परिहरहि. १४ क.
 सावय.

७२. ये वारह व्रत जो करता है वह सुरलोक को आता व्रतपालन है जहां सहस्रनयन [इन्द्र] और धरणेन्द्र भी उसके का फल भोगी का वर्णन करते हैं।

७३. आयु के अन्त में स्थर्ग को छोड़कर उत्तमवेश में दूसरे जन्म उत्पन्न होते हैं, और हरि, बलभद्र व अश्वतीर्थी के के सुख सुख भोगकर पुनः तप करते हैं।

७४. चतुषष्ट (भव्य) दो तीन भव में सुरनर-सुख भोग कुछ भवों के कर, व जग्धन्य सात आठ भव में, कर्मरज को दूर पथान् मोक्ष करके मोक्ष को जाते हैं।

७५. जो अधिव संगत्याग कर देते हैं उनके व्रत भङ्ग नहीं होते। क्या उनको चोर लग सकते हैं जो दूर से भाग जाते हैं ?

७६. इस धर्म का जो आचरण करता है, ब्राह्मण चाहे आवकलक्षण शूद्र, कोई भी हो, वही थ्रावक है। और क्या आवक के सिर पर कोई मणि रहता है ?

७७. जो मद्य, मांस और मधु का त्याग करे आजकल आजकल यही थ्रावक है। क्या वहे चृक्षों से रहित एरण्ड थ्रावक यन में छाँह नहीं होती ?

सावयवमहं सयलहं मि दाणु पहाणु उबुतु ।
 तं दिअह विणएण सहुं त्रज्जिवि पतु अपतु ॥ ७८ ॥
 उत्तमपतु मुणिदु जगि मज्जिग्गु सावड मिडु ।
 अविरयसम्माइँडु जणु पभणित पतु कणिदु ॥ ७९ ॥
 पत्तहं जिणउवएसियहं तीहिं मि देइ जु दाणु ।
 कल्लाणइं पंचइं लहिवि भुंजइ सोक्खणिहाणु ॥ ८० ॥
 दंसणरहियकुर्पेति जह दिणइ ताह कुभोउ ।
 खारघडँइं अह णिवडियउ णीरु वि खारउ होइ ॥ ८१ ॥
 हयगथसुणहहं दारियहं मिच्छादिद्विहिं भोय ।
 ते कुपत्तदाणंधिवहं फल जाणहु बहुभेय ॥ ८२ ॥
 तं अपतु आगेमि भणित णउ वयदंसर्ण जासु ।
 णिष्कछु दिणित होइ तसु जंह ऊसरि कउ सैंसु ॥ ८३ ॥
 हारित तें धणु अप्पणित दिणु अपत्तहं जेण ।
 उप्पहिं चौरिहं अप्पियउ खोजु ण पत्तउ केण ॥ ८४ ॥

१ द. उत्तिम०; ज. उचिमु. २ ज. तहैं मि. ३ क. देउ.
 ४ अ. ज. कुपत्त. ५ अ. क. घडे. ६ क. द. तहभेय. ७ क.
 आगम०. ८ अ. क. ज. दंसणु. ९ अ. क. द. जहिं. १० द.
 ससु; ११ ससु. १२ द. चोरहिं.

७८. श्रावकों के सब धर्मों में दान प्रधान कहा गया दान की प्रधानता है। इसे पात्र अपात्र का विवेक करके, विनय सहित देना चाहिये।

७९. जगत् में उत्तम पात्र मुनीन्द्र और मध्यम श्रावक कहा गया है। अविरत सम्यग्वाप्ति पुरुष कनिष्ठबृत्तरहि पात्र कहा गया है।

८०. जिन भगवान् द्वारा उपदिष्ट तीनों प्रकार के पात्रों को जो दान देता है वह पंच कल्यण का लाभ करके सुखनिधान का उपभोग करता है।

८१. दर्शन रहित कुपात्र को यदि दान दिया जाता है तो उससे कुभोग प्राप्त होता है। खारे घड़े में डाला हुआ जल भी छारा हो जाता है।

८२. घोड़े, हाथी, कुत्ता व वेश्याओं के भोग मिथ्यादृष्टियों के भोग हैं। इन्हे कुपात्रदान रूपी बृक्ष के नामा प्रकार के फल जानो।

८३. वाग्मि में उसे अपात्र कहा है जिसके बत व दर्शन नहीं है। उसे दिया हुआ दान निष्फल होता है, जैसे ऊसर जमीन की खेती।

८४. जिसने अपात्र को दान दिया उसने अपना धन खोया। उपत कर चौरों को दिये हुए धन का स्वाज किसने पाया है?

इकु वि तारइ भवजलहि बैहु दायार सुपत्तु ।

सुपरोहणु एकु वि बहुय दीसइ पारहु पिंतु ॥ ८५ ॥

दाणु कुपतहं दोसडइ चोलिजइ ण हु भंति ।

पत्थरु पत्थरणाव कहिं दीसइ उत्तारंति ॥ ८६ ॥

जह गिहतथु दाणेण विणु जगि पभणिजइ कोइ ।

ता गिहतथु पंखि वि हवई जै घरु ताह वि होइ ॥ ८७ ॥

धम्मु कर्तुं जह होइ धणु हहु दुन्वयणु म वोलि ।

हक्कारउ जमभडतणउ आवह अज्जु कि कलि ॥ ८८ ॥

काई घहुतहं संपवैं जई किविणहं घरि होइ ।

उवहिणीरु खारे भरिउ पाणिउ पिर्धइ ण कोइ ॥ ८९ ॥

पत्तहं दिणणउ थोवडैउ रे जिर्यं होइ बहुतु ।

बदह बौउ धरणिहि पडिउ वित्थरु लेइ महंतु ॥ ९० ॥

धम्मसर्लैवं परिणवह चाउ वि पत्तहं दिणु ।

साइयजलु सिपिपहि गयउ मुत्तिउ होइ रवणु ॥ ९१ ॥

१ द. तारइ तीर. २ क. में यह दोहा नहीं है. ३ अ. ज.
द. हवाहिं. ४ अ. क. करहुं. ५ अ. क. संपवहं. ६ ज. द. जा.
७ ज. द. सायरणीरु खारे भरिय. ८ अ. पिवह. ९ अ. द.
चोअडड. १० ज. द. वियरिय. ११ अ. क. सर्लवहं.

८५. एक ही सुपान्न अनेक दातारों को भवसमुद्र से तार देता है। अच्छी एक ही नौका वहुतों को पार लगाती देखी जाती है।

८६. कुण्डल का दान देव पूर्ण कहा गया है इसमें कुण्डलदान आनित नहीं। पथर की नाव पथर को पार का देव उतारती कहीं देखी गई है?

८७. यदि दान के विना भी जगत् में कोई गृहस्थ दान के विना कहलाये तो पक्षी भी गृहस्थ होगया याँकि घर मृहस्थ नहीं तो उसके भी होता है।

८८. 'यदि धन होजाय तो धर्मे करुं' ऐसे दुर्वचन मत मौत का शोल। यमदूत का हल्कारा आज आजय कि करुं।

८९. बहुत सम्पत्ति से भी क्या यदि वह कृष्ण के घर ^{कृष्ण} _{कुरानीर} हुई। समुद्र का जल खार से भरा है। उसका ^{उन्न} पानी तक कोई नहीं पहता।

९०. हे जीव, पात्र को दिया हुआ थोड़ा भी बहुत होता पात्रदान थोड़ा है। चट का वीज भूमि में पढ़कर भारी विस्तार भी बहुत है ले लेता है।

९१. पात्रको दिया हुआ दान धर्म स्वरूप परिणयित होता है। स्वातिजल सीप में पढ़कर रमणीय मोती दान जाता है।

जं दिजइ तं पावियइ एउ ण वयणु विसुद्धु ।
 गाइ पैइण्णइ खडभुसई कि ण पयच्छइ दुदु ॥ ९२ ॥
 जो घरि हुंतइ धणकणइ मुणिहि कुभोयणु देइ ।
 जम्मि जम्मि दालिहडउ पुडि ण तहु छंडेइ ॥ ९३ ॥
 कहिं भोयण सैहुं मिईडी दिण्णु कुभोयणु जेण ।
 हुंतइ चीयइ घरि पउर वविय बबूलइ तेण ॥ ९४ ॥
 जं जिय दिजइ इत्थुभवि तं लब्धमह परलोइ ।
 मूले सिंचइ तहवरह फलु डालेहुं पुणु होइ ॥ ९५ ॥
 पत्तइ दाणइ दिण्णहण मिच्छादिडि चि जति ।
 उत्तमाइ भोयार्वणिहि इच्छिउं भोड लहंति ॥ ९६ ॥
 कम्हुं ण खेत्तिय सेव जहि णल वाणिजपयासु ।
 घरि घरि दस कप्पयर जहिं ते पूरेहि अहिलासु ॥ ९७ ॥
 कि कि देइ ण धम्मतरु दाणसलिलसिंचतु ।
 जइ मिच्छतहयातणहु रकिखजइ छज्ञातु ॥ ९८ ॥

१ अ. क. यहउ वयणु विरुझु. २ ज. पयणह. ३ ज. द.
 लिहु. ४ अ. क. भेटडी. ५ क. डालहु. ६ क. दिण्णइ दाणहण.
 ७ ज. ०हि. ८ अ. क. भोयवणि चि. ९ क. रच्छिय भोय.
 १० अ. क. कम्म. ११ क. पूरह. ज. पूरिहि.

९२. 'जो दिया जाता है वही प्राप्त होता है' यह बचन उपयुक्त नहीं है। शाय को घास-भुसा खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती ?
९३. जो घर में धनधार्य होते हुए भी सुनि को कुमोजन-दान कुमोजन देता है, जन्म जन्म दारिद्र्य उसका पीछा का फल नहीं छोड़ता ।
९४. उसकी भोजन से भैट कहाँ । जिसने कुमोजन दिया । घर में अच्छा बीज होते हुए भी उसने विशुल बोये ।
९५. हे जीव, जो कृष्ण इस भव में दिया जाता है वही दान से परलोक परलोक में प्राप्त होता है । वृक्ष की मूल सींचने में सुख से ही डाल में फल लगता है ।
९६. पात्रों को दान देने से मिथ्यादृष्टि भी उत्तम प्रवदान से भोग-भोगभूमि को जाते हैं और इष्टभोग भूमि के सुख पाते हैं ।
९७. जहाँ (भोगभूमि में) न खेती व सेवा का काम है और न वाणिज्य का प्रथास है । जहाँ घर घर दश कल्पवृक्ष हैं जो अभिलापाओं को पूरी करते हैं ।
९८. दान सलिल से सींचे जाने पर धर्मतरु क्या क्या दान से धर्मवृद्धि नहीं देता, यदि मिथ्यात्वरूपि अग्नि से उसे जलने और इष्टाम से बचाया जाय ।

धम्मु करंतहं होइ धणु हत्थु ण कायउ भंति ।
जलु कहुतहं कूवयहं अवसहे सिरउ धंडति ॥ ९९ ॥

धम्महु धणु पैरिहोइ थिरु विघट्ट विद्विवि जंति ।
अह सरवरु अविणई रहिउ फुट्टिवि जाइ तडति ॥ १०० ॥

धम्में सुहु पावेण दुहु एउं पसिद्धउ लोइ ।
तहा धम्मु समायरहि जै हियईछिउ होइ ॥ १०१ ॥

धम्में जाणहि जंति पर पावें जाण चहुति ।
परयर गेहोवरि चढहि कूवतण्ये तलि जंति ॥ १०२ ॥

धम्में इकु चि बहु भरइ सइं भुकिखयउ अहम्मु ।
बहु बहुयहं छाया करइ तालु सहइ सइं घम्मु ॥ १०३ ॥

काइ बहुतहं जंपियहं जै अप्पहु पडिकूलु ।
काइ पि परहु ण तं करहि एहु जि धम्महु मूलु ॥ १०४ ॥

सत्थसएणी वियाणियहं धम्मु ण चढहं मणे चि ।
दिष्यरसउ जइ उगमई घूयहु अंधउ तो चि ॥ १०५ ॥

१. अ. क. काइ म भंति; द. काइ भर्णति; २. ज. चहुति;
द. बहुति; ३. अ. क. परहोइ. ४. अ. अविणय. ५. अ. क. एहु.
६. क. धम्म समायरह जिह द्वियईछिय. ७. अ. क. द. जाणहं;
८. द. ण. हुति. ९. क. खणे. १०. अ. क. द. बहुयहं. ११. ज. घम्मु;
१२. ज. 'सप्तहं. १३. द. चढह. १४. अ. उगमहि. १५. अ. क. घूवउ.

१९. धर्म करने वालों के धन होता है इसमें आनित धर्म से धन ग्रामी न करना चाहिए। कुप से जल बालों वालों के सिर पर अवश्य घड़ा होता है।

२०. धर्म से धन स्थिर होता है और विश्व विश्वास धर्म से धन जाने हैं। पार से रहित सरोबर तद से फूट की दिवरता जाता है।

२१. 'धर्म से सुख, पाप से दुख' यह लोक में प्रसिद्ध है। इसलिये धर्म कर जिससे मनोवाक्षित प्राप्त हो।

२२. धर्म से नर यानों द्वारा जाते हैं और पाप से यानों धर्म का सुफल, का बहन करते हैं। घर बनाने वाले बरके ऊपर पाप का दुष्कल चढ़ते हैं और कुआ सोने वाले नीचे को जाते हैं।

२३. धर्म से एक ही बहुतों का भरण पोषण करता है धर्म की शक्ति और अधर्मी स्वयं भूखा रहता है। बट बहुतों पर छाया करता है और ताल स्वयं वाम सहता है।

२४. बहुत कहने से क्या, जो अपने प्रतिकूल हो उसे धर्म का मूल कभी दूसरों के प्रति भी मत करो। यही धर्म का मूल है।

२५. सौ शालों को जान लेने से भी विपरीत ज्ञान वाले विपरीत ज्ञानी के मन पर धर्म नहीं चढ़ता। यदि सौ सूर्य भी ऊपर आवें तो भी द्युग्रु अंधा ही रहेगा।

पोद्दुहं लग्निं पावमइ करइ परतहं दुक्खु ।
 देउले लग्नियं सिल्लियैइं किण पलोद्दुहं मुक्खु ॥ १०६ ॥
 द्वुह सुविसुद्धियै होह जिय तणुमणवैयसामग्नि ।
 घम्मु विदापह इच्चियै धणहं विलग्गउ अग्नि ॥ १०७ ॥
 मुणि व्यणहं झाँथहि मणइ जिणु भुवणलयवंधु ।
 काँयैइं करि उववासु जिथ जै खुद्दुह भवसिंधु ॥ १०८ ॥
 होइ वणिजु ण पोद्दुलिहि उववासहि णउ धम्मु ।
 एहु अहाणउ सो चवह जसु कउ भारिउ कम्मु ॥ १०९ ॥
 पोद्दुलियैं मणिमोत्तियैं धणु किच्चियैहि ण माइ ।
 बोरिहिैं भरिउ बलद्वडा तं णाही जं खाह ॥ ११० ॥
 उववासहु इक्कु फलइं संबोहियपरिवारु ।
 णायदसु दिवि देउ हुउ पुणरचि णायकुमारु ॥ १११ ॥
 तं कज्जे जिय पैइं भणिउ करि उववासवभासु^{१५} ।
 जाम ण देहकुडिल्लियै छुकह मरणहुयासु ॥ ११२ ॥

१. अ. देउलि. २. ज. लग्निवि. ३. ज. कीलियहि. ४. प.
 परहटह. ५. अ. क. ज. सुविसुद्धह. ६. द. 'वयणे समग्नि. ७. अ.
 क. सित्तियह. ८. ज. द. व्यणि. ९. क. शाइय मणह. १०. ज.
 कायह. ११. ज. पोद्दुलिहि. १२. ज. व्याणउ. १३. अ. किल्लयहि
 १४. अ. क. योरिय. १५. ज. पह. १६. ज. उववासु लपासु.

१०६. पेट के लिये भी पापमति दूसरों को दुख पहुंचाता पेट के लिये है। द्रेवल में लगी हुई खीलियों को मर्द यदों पाप नहीं पलोटता?

१०७. यदि, हे जीव, तन, मन और बन्नन की सामग्री मन-बन्नन विशुद्ध होय तो इतने से ही धर्म बढ़ता है। धन काय की शुद्धि में आग लगने वे।

१०८. त्रिभुवन-बन्धु जिन भगवान् का बननों से कीर्तन ध्यान, कीर्तन कर, मन से ध्यान कर, और काय से उपवास और उपवास कर, जिससे हे जीव, भवसिंधु खुटै।

१०९. वाणिज्य पोटली से नहीं होता। उपवास से धर्म उपवास की नहीं होता। यह अहाना वह कहता है जिससे भारी वाणिज्यसे उपमा (दुष्) कर्म किया है।

११०. मणि और मोतियों की पोटली में धन कितना है इसका मान नहीं रहता। बैल भेरे बेरों का तो कोई खाने वाला भी नहीं है।

१११. एक ही उपवास के फल से परिधार का सम्बोधन उपवास-फलका करके नागदत्त सर्ग में देव हुआ और फिर उदाहरण नागकुमार।

११२. इसीलिये, हे जीव, तुझसे कहता हूँ कि उपवास का अभ्यास कर, जयतक, कि देव रूपी कुंड में मरण की आग नहीं पढ़ी।

धम्मु विसुद्धउ तं जि पर जे किङ्गइ काएण ।
 अहवा तं धणु उज्जलउ जं आवइ णाएण ॥ ११३ ॥
 पिद्रेण॑मणुयह-कङ्गडा संज्ञमि उण्णय दिति ।
 अह उत्तमपह जोडिया जिय दोस वि गुण छुति ॥ ११४ ॥
 पिय॑मविहृण॑ह पिडणी जीवह पिष्फल होइ ।
 अण्णबोहियैउ कि पावियह दूर्मकलंतरु लोइ ॥ ११५ ॥
 जो वयभावणु सो जि तणु कि किङ्गइ इयरेण ।
 तं सिरु जं जिणगुणि णवइ रेहइ भचिभरेण ॥ ११६ ॥
 दाणच्चणविहि जे करहिं ते जि सलक्खण हस्थ ।
 जे जिणतित्थैह अणुसरहि पाय वि ते जि पस्थ ॥ ११७ ॥
 जे सुणंति धम्मकछरहैं ते हउं मण्णमि कण्ण ।
 जे जोयहि जिणवरह मुहु ते पर लोयण धण्ण ॥ ११८ ॥
 अवरु वि जं जहि उवयरहैं तं उवयारहि तित्थु ।
 लह जियै जीवियलाहडउ देहु म लेहुँ पिरत्थु ॥ ११९ ॥

१ अ. क. संज्ञमियउण्णय. २ अ. °विहृणा; क. पिडणी.
 ३ ज. बोहिड. ४ क. दूर्मकलंतरु. ५ ज. जिं. ६ अ. सोहइ.
 ७ अ. ज. °तित्थाहि. ८ अ. क. ण. ९ अ. क. °हिं. ज. °है. १०
 अ. क. °हि. ११ अ. उवयारहि. १२ द. जीविय जियलाहडउ.
 १३ प. करहु.

+ निर्वनि मनुख्यको कुछ देने काले मनुख्य । * नहीं बोलने वाला मनुख्य
 (कलहरु -) कलहरु कुछ लाभकाला । शर्कीत कलहरु ही विनामानी कुछ नहीं

११३. धर्म वही विशुद्ध है जो अपनी काय से किया काय से धर्म, जावे, और यत वही इच्छा है जो व्याय से व्याय से यत आवे ।
११४. निर्धन मनुष्य के कष्ट संयम में उत्तमि देते हैं । उसम पद में जोड़े हुए दोष भी गुण हो जाते हैं ।
११५. निष्ठा-चिह्निन मनुष्य की निष्ठा निष्कल होती है । चिना चैलाये कथा कोई लोक में दाम का दुकड़ा भी पाता है ?
११६. जो व्रत-भाजन हो वही सन है, अन्य किस काम का ? वही सिर है जो जिनमुनि को नमस्कार करे और भक्ति के भार से सुशोभित हो ।
११७. जो दान और पूजाधिधि करे वे ही मुलक्षण हाथ हैं । जो जिनतीर्थों का अल्लुसरण करे वे ही पांच प्रशांसनीय हैं ।
११८. जो धार्मिक शब्दों को सुनते हैं उन्ही को मैं कान सधे कान, मानता हूँ । जो जिनवर का मुख देखें वे ही परम राधे गेह लोकन धन्य हैं ।
११९. और भी जो (अंग) जैसा उपकार कर सके धर्म से देह की उससे वैसा उपकार कराओ । हे जीव, जीवन-सर्वसत्ता लाभ लेकर देह को निर्व्यक मत करो ।

घरु पुरु परियणु धणियधणु चंधवपुत्तसहौइ ।

जीवें जंते धम्मु पर अणु ण सरिसउ जाह ॥ १२० ॥

देहि दाण चंउ कि पि करि मणे गोवहि णियसति ।

जे कड्डियैहं वलंतयहं ते उच्चरहण भंति ॥ १२१ ॥

जह जिय सुक्खेहं अहिलसहि छेंडहि विसयकसाथ ।

अह विर्घैहं अणिवारियहं फलहि कि अज्ञावसाथ ॥ १२२ ॥

फरसिदिउ मा लालि जिय लालिउ एहु जि सत्तु ।

करिणिहि लग्गौउ हत्थियउ णियलंकुसुहु पसु ॥ १२३ ॥

जिविभदिउ जिय संवरहि सरस ण भद्धा भक्ख ।

गालई मच्छु चडपकडिवि गुर्ज विसहइ थलदुक्ख ॥ १२४ ॥

षाणिदिय वड चासि करहि रखखहु विसयकसौउ ।

गंधहं लंपडु सिलिमुहु वि हुउ कंजहं चिच्छाउ ॥ १२५ ॥

रुबहु उपरि रहै म करि णयण णिवारहि जंत ।

रुवैसत्त पयंगडा पेक्खेहि दीवि पंडत ॥ १२६ ॥

१ द. सयाहं. २ अ. ज. चड. ३ अ. क. मणि. ४ क.
कढियहं घरवरतयहं. ५ ज. द. सुक्खहिं. ६ क. विर्घै. ७ क.
लग्गिउ. ८ द. शुह. ९ अ. सुह. १० क. रखखउ. ११ ज. पमाउ.
१२ द. मह. १३ ज. रुबहु लग्गि. १४ क. पेक्खद.

११२ - आणिवारियहं - अनिवारितानं (कामायैरपरिभास्त
तानानियर्थं) विर्घैहं गलहि - विभ्रान्ति वलंति. कि - वि
अज्ञावसाथ - अज्ञावसाथः (निशमः) इस्ति - अर्थः सभ

१२०. घर, पुर, परिजन, धनिकों का धन, पुत्र, वांधव जीव का सचा और सहायक हो जाते समय जीव के साथ नहीं साथी केवल धर्म ही एक साथ जाता है।
१२१. कुछ भी कर के चार दान दे। मन को निजशक्ति दान और मनोगुणित के अनुसार गोप। जो खींच लिया जाता समय वही उपकारी होगा इसमें अविनित नहीं।
१२२. हे जीव यदि तू सुख चाहता है तो विषय-कथाय विषय-कथाय छोड़ दे। जिन्होंने विद्वाँ का निवारण नहीं किया का लग उनके क्या अध्यवसाय फलीभूत होते हैं?
१२३. हे जीव, स्पर्शेन्द्रिय का लालन मत कर। लालन इपर्सोन्ड्रिय करने से यह शत्रु बन जाता है। करिणी से लग कर हाथी जंजीर और अकुंश के दुख में पड़ा है।
१२४. हे जीव, जिहेन्द्रिय का संवारण कर। रसपूर्ण भक्षण भला नहीं होता। गल से मछली थल के दुख सहती है और तड़फ़ड़ा कर मरती है।
१२५. हे मूढ़, ब्राणेन्द्रिय को बश में कर और विषय-प्राणेन्द्रिय का लोभी शिलीमुख (अमर) कमल में कुहला कर पड़ा है।
१२६. रूप के ऊपर रति मत कर। उधर जाते हुए नवनों नेन्द्रेन्द्रिय को भी रोक। रूप में आसक्त पतंग को शीपक पर पड़ते हुए देख।

मणगच्छहं मणभोहणीहं जिय गेयहं अहिलासु ।
 गेयरसे हियकणडा पत्ता हरिण विणासु ॥ १२७ ॥
 एकेहि इंदियेमोक्कलउ पावह दुकखसयाई ।
 जसु पुणु पंच वि मोक्कला तसु पुच्छज्जइ काई ॥ १२८ ॥
 दिल्लउ होहि^१ म इंदियहं पंचहं विणिण णिवारि ।
 दृक् णिवारहि जीहैली आणा परार्दी णारि ॥ १२९ ॥
 खंचहि शुरुवयणकुसहि भेल्लि मदिल्लउ तेमै ।
 मुहं भोडइ मणहत्थियउ संजमेभरतरु जेमै ॥ १३० ॥
 परिहरि कोहु खमाइ करि मुच्चेहि कोहमलेण ।
 एहाणे सुज्जइ भंतिकउ छित्तउ चंडालेण ॥ १३१ ॥
 मउयत्तणु जिय मणि धरहि माणु पणासइ जेण ।
 अहवा तिभिरु ण ठाँहरइ सूरहु गयणि ठिएण ॥ १३२ ॥
 माया मिल्लही थोडिय वि दूसइ चरिउ विसुद्धु ।
 कंजियविद्वई वि चुडई सुदु वि गुलियैउ दुङ्गु ॥ १३३ ॥

१. ज. °भोहणइ. २. अ. गीयह. ३. अ. क. एक वि. ४. अ.
 इंदिउ. ५. अ. क. द. होइ. ६. क. जीयडी; ज. जीहडिय. ७. क.
 तेन. ८. ज. प. जाह. ९. ज. संजसु भर. १०. अ. क. जेन.
 ११. क. मुच्चह. १२. ज. द्वाइ परा. १३. अ. क. °विद्वु वि घड पडह.
 १४. अ. क. गलियउ.

१२७. कुछ अच्छे, मनमोहक गीत की, हे जीव, अभिलाषा
कर्णहारी (मत कर)। कर्णहारी गीत के रस से हरिण
विनाश को प्राप्त हुए।
१२८. एक ही इन्द्रिय के स्वच्छन्द होने से सैकड़ों दुख
पैदेन्द्रिय प्राप्त होते हैं। जिसकी पांचों इन्द्रिय मुक्त हैं
उसका तो पूछना ही क्या है।
१२९. ५/पांचों इन्द्रियों के सम्बन्ध में ढीला भत हो। दो का
जिहा निवारण कर। एक जीभ को रोक और दूसरे
और परस्परी पराई नार।
१३०. गुरुबनन रूपी अंकुश से स्त्रीय, जिससे मट्टापन
मन सुपी हाथी, को छोड़कर मनसुपी हाथी संयम रूपी हो भेरे
संयमहपी वृक्ष, चृक्ष की ओर मुख मोड़े।
१३१. क्रोध को छोड़ और क्षमा धारण कर। क्रोध रूपी
सची शुद्धि मैल से मुक्त हो। आन्ति में पड़ा हुआ मनुष्य ही
चंडाल से हुआ जाकर स्वान से शुद्ध होता है।
१३२. हे जीव, सूदुता को मन में धारण कर जिससे
मान का प्रणाश हो। सूर्य के गगन में स्थित होने
पर तिमिर नहीं ठहर सकता।
१३३. भाया को छोड़ जो थोड़ी भी विशुद्ध चरित्र को
दूषित कर देती है। कांजी के विन्दुमात्र से शुद्ध,
गुड़ीला दूध भी फट जाता है।

लोहु पिलि चउगइसलिलु हलुबउ जायइ जेम ।
लोहमुकु सायरु तरइ पेकिख परोहणु तेम ॥ १३४ ॥

मोहुं ए छिअउ दुब्बलउ होइ हयरु परिवारु ।
हलुबउ उरधाउंतयहं अह व णिरगलुं थारु ॥ १३५ ॥*

मिच्छते णरु मोहियउ पाउ वि धम्मु मुणेइ ।
भंति कबण धत्तूरियउ ढेलु वि सुवण्णु भणेइ ॥ १३६ ॥

जइ इच्छहि संतोसु करि जिय सोबखहं चिडलाहं ।
अह वा णंदु ण कोँ करह रवि मेलिवि कमलाहं ॥ १३७ ॥

यणुयहं विणयविवजियहं गुण सयल वि णासंति ।
अह सरवरि विणु पाणियइं कमलइं केम रहंति ॥ १३८ ॥

विआवचे लिरहियउ वयणियरो वि ण ठाइ ।
सुक्सरहु किं हंसउलु जंतउ धरणहं जाइ ॥ १३९ ॥

सज्जाएं णाणह पसरु रुज्जाइ ईदियगाउ ।
पच्चूसे सरुमगमणि घूर्यैडकुलु णिच्छाउ ॥ १४० ॥

१ क. परोहण. २ द. मोहुण छिज्जहं. ३ अ. क. द.
णिरगल. ४ अ. क. ढेलु वि सुण्णु. ५ अ. ज. द. अच्छहि.
६ ज. कु चि. ७ अ. के. छूषड.

१३४. लोम को छोड़ जिससे चतुर्गति रुपी जल हलका हो जाय। देख, लोहमुक्त प्ररोहण (नौका) सागर को तर आती है।
१३५. मोहका क्षय हो जाने से अभ्य परिवार (आपही) दुर्बल हो जाता है। अर्गला रहित द्वार उद्घाढ़ने में हलका होता है।
१३६. मिथ्यात्म से मोहित नर पाप को भी धर्म मानता है। घतेरे से भक्त पुरुष धल को भी सुवर्ण कहे इसमें क्या आनंद है।
१३७. रन्तोप यदि खूब सुख की इच्छा है, तो, हे जीव, सन्तोष कर। कमलों को आनन्द सूर्य को छोड़कर और कौन करेगा ?
१३८. विनय से विवर्जित मनुजों के सकल गुण नष्ट हो जाते हैं। विना पानी के सरोवर में कमल किस प्रकार रह सकते हैं ?
१३९. वैयाकुल से विरहित बनों का समूह भी नड़ी ठहरता। सूखे सरोवर से जाता हुआ हंसकुल क्या धरा (रोका) जा सकता है ?
१४०. स्वाध्याय से शनि का प्रसार और ईंद्रिय-ग्राम का अवरोध होता। है प्रातःकाल के सूर्योदय में घुम्हु-कुल निष्ठा द्वे जाता है।

गुणवंतहैं सह संगु करि भलिम पावहि जेम ।

सुपणसुैपत्तदिवजियउ धरताहु पुच्छै केम ॥ १४१ ॥

सतु वि महुर्है उवसपह सयल वि जिय बसि हुंति ।

चाह कविचें पोरिसहै पुरिसहु होइ ण कित्ति ॥ १४२ ॥

भोयणु मेउणे जो करइ सरसइ सिज्जह तासु ।

अह वा वसइ समुदि जिय लच्छम करहु णिवासु ॥ १४३ ॥

विस्यकसाव वसणणिचहु अणु जि मिच्छाभाउ ।

पिसुणत्तशु कक्षसवयणु मिछेहि सयलु अणाउ ॥ १४४ ॥

अणाएं आधति जिय आवह धरण ण जाइ ।

उम्मग्गें चलुतयहै केटै भजह पाड ॥ १४५ ॥

परिहरि पुत्रु वि अप्पणउ जसु अणायपवित्ति ।

अपणियहै लालहै परइ कुसियारउ णउ भंति ॥ १४६ ॥

अणाएं चलियैहैं वि खउ किं दुब्बलैहैं णैं जाइ ।

जहिं वाएं बच्चति गय तैहि किं दूणी ठाइ ॥ १४७ ॥

१. ज. द. सघण. २. क. सपत्त. ३. ज. बुज्जह. ४. क.
चाड; अ. चाड. ५. अ. मोणि. ६. द. अहू व घलाइ; ज. वसाय.
७. अ. क. ज. करह. ८. क. वसाणि कसाए विसयमय. ९. अ. क.
द. मिलिवि. १०. अ. ज. केटड. ११. अ. बलियउ. १२. अ. क. ज. द.
दुब्बलउ. १३. ज. द. म. १४. क. ज. तिहृ.

१४१. गुणवंतों का संग कर जिससे भलाहै पर्वे। तुवन सुवंगति और सुपचों से विवर्जित उसम् तृष्ण कैसे कहा जा सकता है ?

१४२. रात्रि भी मधुरता से शान्त हो जाता है और सभी माधुरी, त्याग जीव चश्मा में हो जाते हैं। त्याग, कवित्व और और पीछव पौख से पुराण की कार्तिं होती है।

○ १४३. जो मौन से भोजन करता है उसे सरस्वती सिद्ध माँनन्मोजन होती है। लक्ष्मी समुद्र में निवास करती है इसलिये समुद्र (स्व+मुद्रा) में उसका निवास बनाओ।

१४४. विद्य-कथाय, व्यसनसमूह, पिशुनत्व, कर्कशब्दन और सकल अन्याय इनको छोड़।

१४५. अन्याय से (लक्ष्मी) आती तो आजाती है पर धरी (रोकी) नहीं जा सकती। उन्मार्ग से चलने वालों का पाव कर्टे से भग्न होता है।

१४६. जिसकी अन्याय में प्रबुत्ति हो उसका परिदूर कर अन्यायी का त्याग आहे वह अपना पुत्र भी हो। कुसियारा अपने ही लाल (लार) से मरता है, इसमें आन्ति नहीं।

१४७. अन्याय से बलवानों का भी क्षय हो जाता है, कथा अन्याय से नाश हुईल करन होगा ? जहां वायु से गज भी उड़ जाते हैं घट्ठों क्या कुत्ती ठहर सकती है ?

अणाएं दालिहियहं रे जिय दुहु आवग्गु ।
लकडियेंद्र विणु खोडयहं मग्गु सचिकखलु दुग्गु ॥ १४८ ॥

अणाएं दालिहियहं ओहदुह णिव्वाहु ।
लगड पायपसारणहं फाईइ को संदेहु ॥ १४९ ॥

ता अच्छउ जिय पिसुणपइ संगु जि ताह विरहु ।
सणहं संगैं कडिथउ चंदणु पिक्खु सुरंधु ॥ १५० ॥

विहडावइ ण हु संघडइ पिसुणु परायड णेहु ।
टालइ रथैइ ण उत्तिडउ उंदैरु को संदेहु ॥ १५१ ॥

धम्में विणु जे सुबखडा तुडा गया वियार ।
जे तरुवर खंडिवि खुडिय ते फल इक जि बार ॥ १५२ ॥

सुहियउ हुवउ र्ण को वि इह रे जिय णरु पावेण ।
कहमि तालिउ उडियउ गिरुउ दिहउ केण ॥ १५३ ॥

रे जिय पुच्च ण धम्मु किउ एवहिं करि संताव ।
भंति कवण विणु णावियइ खडहडि णिवडइ णाव ॥ १५४ ॥

१. ज. २. अट. ३. ज. द. लकडियहं. ४. अ. क.
सचिकिखलु. ५. अ. ज. फहर. ६. अ. विक्ष. ७. अ. क. रथणिहि
उत्तिडउ. ८. अ. उंदुरु ९. ज. द. ण होइसर अरि जिय को
पावेण १०. ज. छिरुउ; ११. गिरुउ.

१४८. हे जीव, अन्याय से दरिद्रियों का दुख बढ़ता है। अन्याय से विना लकड़ी के खोड़े के मारी कीचड़मय और दुर्गम हो जाता है।
१४९. अन्याय से दरिद्रियों का निर्वाह भी ढूट जाता है। जर्ज बख पांच पसारने से कठेगा ही निर्वाह-हानि इसमें क्या सन्देह है।
१५०. इसलिये, हे जीव, पिशुनमति को अलग रहने वे : पिशुन्य उसका संग भी विरुद्ध (बुरा) होता है। सर्प के संग से, देख, सुगन्धी चन्दन भी काट डाला जाता है।
१५१. पिशुन पराये स्नेह को तोड़ता है जोड़ता नहीं। उंदीर (मूषक) उत्तरीय (बख) को काटता है, रचता नहीं।
१५२. धर्म के विना जो सुख मेंगे हैं वे विचारले कि धर्मरहित सुख ढूट गये। जो वृक्ष को काटकर खोड़े गये हैं वे फल एक बार के ही हैं।
१५३. हे जीव, पाप से यहाँ कोई तर सुखी नहीं हुआ। पाप से सुख कीचड़ में मारी हुई गेंद उठती हुई किसने नहीं खेली है ?
१५४. हे जीव, ' पूर्ण में धर्म नहीं किया ' इसका संताप धर्म नाविक है कर। विना नाचिक के नाव चहानों पर जा पड़े तो इसमें क्या भान्ति है।

जेण सुदेह सुणरु हवसि सो पइ कियउ ण घम्हु ।
 चिणि वि छत्ते वौरियहि इकु पाणिउ अरु घम्हु ॥ १५५ ॥
 अभयदाणु भयभीरुहं जीवहं दिणु ण आसि ।
 वार वार मरणहं डरहि केम चिराउसु होसि ॥ १५६ ॥
 विलावच्चु ण पइ कियउ दिणु ण ओसहदाणु ।
 एवहिं वाहिहिं पीडियउ कंदि म होहि अयाणु ॥ १५७ ॥
 संवहं दिणु ण चउविहं भत्तिए भोयणदाणु ।
 रे जिय काइ चडप्फडहि दूरीक्यणिव्वाणु ॥ १५८ ॥
 पोत्थय दिणु ण सुणिवरहं विहिय ण सत्थहं पुज ।
 मइ पंडियउ कविचुं गुणु चाहहि केम णिलज ॥ १५९ ॥
 पाउ करहि सुहु अहिलसहि परं सिविणे वि ण होइ ।
 पाहणिवे वाइयहं अब कि चकवह कोइ ॥ १६० ॥
 गुरुआरभेहं पीरयगह तिव्वकसाय हवंति ।
 इकछिदिय पाहणभरिय चुहुइ णाव ण भंति ॥ १६१ ॥

१ ज. चिरयहि. २ अ. "भीतवहं. ३ ज. चिरायउ
 ४ अ. संपहं. ५ अ. क. द. विहहं. ६ ज. कविस. ७ क. द.
 परि. ८ ज. मायह. ९ अ. ज. चाथियहं. १० अ. द. "आरंभहं.
 ११ अ. क. णिरय".

१५५. जिससे सुरेव और सुनर होता है उस धर्म को तूने नहीं किया। दोनों का छप्र से निवारण कर सकेगा, एक पानी और (दूसरा) शाम।

१५६. भयभीलकों को कभी अभयदान नहीं दिया। अब चिरायु क्यों बार बार मरने से डरता है। चिरायु कैसे हो न हुआ? सकता है।

१५७. तूने न वैयाकृत्य किया, न औषधदान दिया, व्याधियों से इसलिये व्याधियों से पीड़ित हुआ है। हे अहानी, पीड़ित क्यों हुआ? कठोर मत हो।

१५८. चमुर्विध संघ को भक्ति से भोजनदान नहीं दिया। निवाण से दूर हो जीव, निर्वाण का दूर करके अब क्यों हुआ? तड़फ़ड़ाता है।

१५९. मुनियरों को पोथी नहीं दीं, न शास्त्रों की पूजा मति आदि की। मति, पाणिहत्य, कथित्य व गुण किस प्रकार गुण क्यों न हुए? चाहता है, निर्लज्ज?

६० १६०. पाप करता है और सुख आहता है, पर यह स्वप्न में भी नहीं होता। माईफल व नीम बोने से क्या नहीं, कोई आम चख सकता है?

१६१. बड़े आरम्भ से तीव्र कथाय और नरक गति होती है। पाषाणों से भरी नाव एक ही छिद्र से झब जाती है इसमें आन्ति नहीं।

कुडतुलामाणाइयहं हरिकरिखरविगमेह ।
 जो णचइ णौढपेखणउ सो गिणह बहुवेस ॥ १६२ ॥
 हंलुवार्महं मणुयगइ मंदकसायहं होइ ।
 छुड सावउ धणु वाहुडह लाहउ पुणरवि होइ ॥ १६३ ॥
 सम्मते सावयवयहं उपजइ सुरराउ ।
 जो गविणिष्ठउ छंडियइ सो वारइ किम जाउ ॥ १६४ ॥
 धम्मे जं जं अहिलसइ तं तं लहह असेसु ।
 पावे पावइ पावियउ दालिहु वि सकिलेसु ॥ १६५ ॥
 धम्मे हरिहलचकवइ कुलयरु जायह कोइ ।
 सुवणतयवंदियचलणु कु वि तिस्थंकरु होइ ॥ १६६ ॥
 जासु जणणि सगगागमाणि पिच्छइ सिविणयर्णति ।
 पहतेएं संभावियइ स्वरुगगमणु ण भंति ॥ १६७ ॥
 जो जम्मुच्छवि एहावियउ अमियधडहिं सक्षेण ।
 किम एहाविजइ अतुलबलु जिणु अह वासक्षेण ॥ १६८ ॥

१. ज. कुडतुला कुडमाणायहं, २. ज. णडु, ३. अ. क.
 मेस, ४. अ. क. लहुआ०, ५. क. कोइ, ६. क. थोगशिणदुउ;
 ७. अ. जाइ, ८. क. द. पावह, ९. ज. निः।

१६२. कृष्ण तुला, मानादि (झड़े तराजू, चांद आदि) कपट-व्यापार रखने वाले सिंह, हाथी, गधा, विषवाले व मेघ का कल (मक्खा) होते हैं। तो यह का उत्तराशा करता है वह बहुत वेष धारण करता है।
१६३. लघु आरम्भ और मन्दकषाय धालौं को मनुष्य-गति प्राप्त होती है। यदि श्रावक धन का व्यापार करता है तो फिर लाभ होता ही है।
१६४. सम्यक्त्व-सहित श्रावक के वर्तों से खुरराज इन्द्रत्व-प्राप्ति उत्पन्न होता है। जो इन्द्रियों की निष्ठा को छोड़ देता है वह जाने से कैसे रोका जा सकता है?
१६५. धर्म से जो जो अभिलाषा करता है सो खब पाता है। पाप से पापी क्लेशमय दारिद्र्य पाता है।
१६६. धर्म से कोई हरि, हर, चक्रवर्ती व बुलकर उत्पन्न होता है और कोई तीर्थकर होता है जिनके चरणों पद-प्राप्ति की तीनों लोक बन्दना करते हैं।
१६७. स्वर्ग से आगमन के समय उनकी जननी स्वप्न-गमेकल्याण पक्षि देखती है। सूर्योदय प्रभा के तेज से संभावित होता है इसमें भास्ति नहीं।
१६८. जन्मोत्सव के समय उनका स्नान शक अमृत के जन्म कल्पण घड़ों से करता है। अतुलबली जिन भगवान् वाशक के द्वारा कैसे नहलाये जा सकते हैं।

सुरसायरि जसु णिकमेणि घल्हइ चिहुर्ँ सुरिंदु ।
अह उत्तमकज्जहं हवइ ठाड जि खीरसमृदु ॥ १६९ ॥

णाणुगमि जसु समसरणि पत्तामरत्संधाउ ।
होइ कमलैमउलियभसलु स्रुग्गमणि तलाउ ॥ १७० ॥

जसु पत्तुचमराइयउ विलुलेतो वि असोउ ।
अहदूरज्ञियपरियणहं किम उपजह सोउ ॥ १७१ ॥

वारिड तिभिरु जिणेसरहं भामेढलु अहदितु ।
हयतमु होइ सुहावणउ इस्थु ण काई विचितु ॥ १७२ ॥

माहउसरणु सिलीमुहउ कुसुमासणि थिष्पांति ।
सुमणस अलियविवजिया जिणचलणहं णिवडंति ॥ १७३ ॥

धवलु वि सुरमउडंकियउ सिंहासणु चहु रेइ ।
अह वा सुरमणिमंडियउ जिणवैरआसणु होइ ॥ १७४ ॥

*
सदमिसिण दुंदुहि रदइ छंडहु जीवहं खेरि ।
हकारइ णर तिरिय सुर एरिस होइ सैं भेरि ॥ १७५ ॥

१ द. णिकल्लवणि. २ ज. चिहुरु. ३ ज. कमलु. ४ ज.
द. °स्तामि. ५ ज. रोह. ६ अ. °हरु. ज. °हरि; द. °वरि.
७ अ. मु (छु. ?); द. म.

* ले - आकाशे, अरि - अङ्गुरे /

- १६९.** निष्ठमण के समय सुरेन्द्र उनके केशों को सुरसागर में घालते (डालते) हैं। उसम कार्य का ठांब भी क्षीरसमुद्र होता है।
- १७०.** ज्ञानोदय के समय उनके समवशरण में देवों का राणीह भात होता है। सूर्योदय के समय उसम कमलों पर मुकुलित भग्नरों से युक्त होता है।
- १७१.** उनके ऊपर उसम पत्तों से विसर्जित अशोक लहलहाता है। जिन्होने परिजनों का बहुत दूर से परित्याग कर दिया उन्हें कैसे शोक उत्पन्न हो सकता है ?
- १७२.** जिनेश्वर का अंबकार दूर हुआ है, अतः उनका भासणडल अतिदीर्घिमान, तभी का नाश करने वाला और सुहावना होता है इसमें कुछ चिकित्र नहीं है।
- १७३.** माधवशरण शिलीभुख कुसुमासन पर तृप्त हो जाते हैं और अलीकविवर्जित सुमनस जिन भगवान् के चरणों में पड़ते हैं।
- १७४.** सुरमुकुठांकित धबल सिंहासन भी बहुत शोभायमान है। जिनेश्वर का आसन सुरमणि-मंडिर होता है।
- १७५.** शब्द के मिथ से उम्मीधि रहती है 'जीवों के प्रति द्वेष छोड़ो'। वह नर, लिंगश्च और सुरों को दृक्खारती है। वह मेरी ऐसी होनी है।

चामर ससहरकरधवल जसु चउसडि पर्दति ।

हरिसिय जिणपासद्विया अह सचामर हुंति ॥ १७६ ॥

त्र३

छुणससिपंडरहं सुर णर णाय धर्ति ।

विसहरसुरचकिहिं गहिय जिणपुंडरिय इवंति ॥ १७७ ॥

शृणि अविस्थयसंपुणहल जीवा सासणि जासु ।

अमियसरिसैं हियमहुर गिर अह व ण वल्लह कासु ॥ १७८ ॥

एह विहूइ जिणेसरहं हुव धम्मे एवहुँ ।

बणसह णयणाणदयरि होइ वसंते मंड ॥ १७९ ॥

एवंविहुं जो जिणु महह चंछिउ सिज्जह तासु ।

बीजे अह वा सिचिर्यहं खेचिय होइ ण कासु ॥ १८० ॥

जो जिणु प्हावह घयपयहि सुरहि प्हविज्जह सोह ।

सो पावह जो जं करह एहु पसिद्वउ लोह ॥ १८१ ॥

गंधोएण जि जिणवरहं प्हाविर्य पुण्ण बहुतु ।

तेलहू बिंदु वि विमलजैलि को वाह पसरतु ॥ १८२ ॥

१. अ. हं. २. अ. धुणि. ३. ज. सुणि. ४. ज. सहिय.
५. अ. क. इवयहू. ६. अ. क. ०विह. ७. ज. द. विज्जै. ८. ज.
संचियर्य. ९. ज. प्हाविहि. १०. द. तेलहू. ११. ज. जालिहि.

१७६. अन्द्रकिरणों के समान धबल औसत अमर उनके ऊपर दुलते हैं। इसे जिन भगवान् के पास स्थित होने वाले सचामर (सचे अमर) होते हैं।
१७७. शूष्णचन्द्र के समान श्वेत छम सुर नर और नाग धारण करते हैं। जिन भगवान् के पुण्डरीक (छत्र) विष्वधर, सुर और चक्रवर्तियों द्वारा गहे जाते हैं।
१७८. उनके शासन में ध्वनि द्वारा जीवों के सम्पूर्ण फलों का व्यारुप्यान होता है। अमृत के सदश, अहंसधुर सिरा किसी व्यक्ति मही लगती?
१७९. यह जिनेश्वर की इतनी विभूति धर्म से ही हुई है। नयनानन्दकारी वनश्री वसन्त से ही मणिकृत होती है।
१८०. इस प्रकार के जिन भगवान् की जो पूजा करता है उसका आच्छित सिद्ध होता है। बीज के सींचने से किसकी लेत्ती (समृद्ध) नहीं होती?
१८१. जो जिन भगवान् को धृत और पथ से स्नान करता है उसे सुर नहलाते हैं। 'जो जैसा करता है तैसा पाता है' यह लोक में प्रसिद्ध ही है।
- (१८२. जिनवर के गंधोदक स्नान से बहुत पुण्य होता है। विमल जल में पड़े हुए तेल के शिंदु को फैलने से कौन रोक सकता है ?

जलधारा जिणपयगयउ रयहै पणासई णासु ।
ससहरकिणकरालियहै तिमिगहु कित्तिउ थासु ॥ १८३ ॥

जो चचइ जिणु चंदणई होइ सुरहि तसु देहु ।
तिल्ले जह दीवहै गयई उओइजैइ गेहु ॥ १८४ ॥

जिणु अचइ जो अक्खयहि तसु वर्खंसयस्त्रइ ।
अह विहियहै सुयपंचमिहि होइ वि चक्षिविहूह ॥ १८५ ॥

खुड्डइ भोउ ण तसु महइ जो कुसुमहि जिणथाहु ।
अह सरबैरि णइसारिणहै पाणिउ होइ अगाहु ॥ १८६ ॥

ऐवज्जइ दिण्णइ जिणहु जिय दालिद्दहु णासु ।
दुरिउ ण ढुकइ तहु घगहु लच्छहि होइ ण णासु ॥ १८७ ॥

दीवहै दिण्णहै जिणवरहै मोहहै होइ ण ठाउ ।
अह उववासहि रोहिणिहि सोउ विपलयहु जाइ ॥ १८८ ॥

धूवउ खेवइ जिणवरहै तसु पसरइ मोहगु ।
इत्थु म कायउ भेति करि तें पडिबद्दउ सगु ॥ १८९ ॥

१ क. पदासह, २ क. उज्जोवज्जइ, ३ अ. क. द. सरवर,
ज. सरवणहै सारणहै, ४ अ. द. तहो; ज. तसु, ५ द. मोहह.

१८३. जिनदेव के चरणों पर की जलधारा रज का नाम तक नष्ट कर देती है। चंद्रकिरणों से करालित तिमिर का कितना सामर्थ्य है?
१८४. जो जिन भगवान् की चन्दन से पूजा करता है उसका शरीर सुगन्धित होता है, जैसे कि दीप में डाले तेल से घर में उज्जेला किया जाता है।
१८५. जो अश्वतों से जिनदेव को पूजता है उसका उत्तम अक्षत-पूजा, बंश में जन्म होता है, और श्रुतपंचमी के विधान शुग-पंचमी फल से चकचर्ती की विभूति होती है।
१८६. जो पुण्यों से जिनदेव को पूजता है उसका कभी भोग नहीं खुटता। सरोवर में नदी की नहर मिला देने से पानी अगाध हो जाता है।
१८७. जिनदेव को नैवेद्य बढ़ाने से, हे जीव, दारिद्र्य का नाश होता है, उस मनुष्य को पाप नहीं लगता और लक्ष्मी का विनाश नहीं होता।
१८८. जिनबर को दीप बढ़ाने से भोग को स्थान नहीं दीप-पूजा, रोहिणी उपवास, मिलता, और रोहिणी के उपवास से शोक भी फ्रलय को पहुंच जाता है।
१८९. जो जिनबर को धूप खेता है उसका सौभाग्य फैलता है। इसमें कुछ भी अप्रतिष्ठित मत कि उसने स्वर्ग बांध लिया।

देह जिणिदहं जो फलहं तसु इच्छियहं फलति ।
भोयघरहं गथ रुक्खदा सयल मणोरहं दिंति ॥ १९० ॥

जिणपयगयकुसुमबलिहि उत्तमसियसंजोड ।
सरगयरविकिरणावलिए पलिजिहि लच्छम होइ ॥ १९१ ॥

जिणपडिमहं कारावियहं संसारहं उत्तारु ।
गमणछियहं तरंडउ चि अह च ण पावह पारु ॥ १९२ ॥

जिणभवणहं कारावियहं लब्भह सगिग विमाणु ।
अह टिकइ आराहणहं होइ सपाहिहि डाणु ॥ १९३ ॥

जो धवलावह जिणभवणु तसु जसु कहि मि ण माइ ।
ससिकरणियरु सरयमिलिउ जगु धवलणहं वसाह ॥ १९४ ॥

जो पइठावह जिणवरहं तसु पसरह जगि किचि ।
उषहिवेल छणसरिगुणहं को वासह पसरति ॥ १९५ ॥

आरत्तिउ दिण्णउ जिणहं उज्जोयहं सम्मतु ।
भुवणुब्भासह सुरगिरिहि छहु पयाहि ण दितु ॥ १९६ ॥

१ द. मणोहर हुंति. २ ज. द. होड. ३ क. °हु. द.
°हो. ४ ज. आराहणहं; ५ आराहणिहि. ५ ज. ससिहर. ६ क.
°गुणहं. ७ ज. दीवड दिण्णउ जिणवरहं. ८ क. द. उज्जोइय.

१९०. जो जिनेन्द्र को फल बढ़ाता है उसको यथेष्टु फल प्राप्त होता है । भेगभूमि के वृक्ष उसके सब मनोरथों को पूरा करते हैं ।
१९१. जिनदेव के पद पर बढ़ाई कुसुमाङ्गलि से उसम श्री का संयोग होता है । सरोवर में एही रवि की किरणावलि से कमलों में लक्ष्मी आती है ।
१९२. जिनप्रतिभा करने से संसार से उतार होता है । जिन-प्रतिभा गमन के लिये उद्यत पुरुष को तरंग (डैग्ना) ही करने का फल पर लगाता है ।
१९३. जिन-मन्दिर वनवाने से स्वर्ग में चिमान मिलता है, और आरधना की दीका करने से समधि में निर्माण फल स्थिति होती है ।
१९४. जो जिन-मन्दिर को ध्वल करवाता है (सफेदी जिनमन्दिर की करवाता है) उसका यश कहीं नहीं माता । सफेदी करने द्वारा लक्ष्मी की अवसरा से मिलकर चन्द्रकिरणों का समूह जगत् भर को ध्वल बना देता है ।
१९५. जो जिनदेव की प्रतिष्ठा करता है उसकी जगत् में कीर्ति फैलती है । पूर्णचन्द्र के गुणों से प्रसार करती हुई उद्यति की बेला (तरंग) को कौन रोक सकता है ?
१९६. जिनदेव को दी हुई भारती सम्यक्त्व का उद्योत करती है । सुरगिरि पर पदार्पण करते ही सूर्य भूयन को उद्घासित कर देता है ।

तिलयहं दिण्णाहं जिणवरहं जगि अणुराउण माइ ।

चंदकंति चंदहं मिलित पाणिय दिणण ण ठाइ ॥ १९७ ॥

चंदोवहं दिण्णहं जिणहं मैणिर्मंडविय विसाल ।

अह संबंधां ससहरहं गहेतारायणमाल ॥ १९८ ॥

भञ्जुच्छादणि पावद्वरि जिणहैरि घंट रसंति ।

कुमुयाणंदणि तपहरणि छणज्ञामिणि ण हु भंति ॥ १९९ ॥

चिधन्नपरछर्चहं जिणहं दिण्णहं लैब्भइ रजु ।

अह पारोहहि पिमगयहि वहु वित्थरहं ण चोजु ॥ २०० ॥

जिणहैरि लिहियहं मंडियहं लच्छि सर्मीहिय होइ ।

पुण्णु महेतउ तासु फलु कहिवि णे सकइ कोइ ॥ २०१ ॥

जंबूदीउ समोसरणु णंदीतरं लोयाणि ।

जिणवरभवणि लिहावियहं सयलहं दुक्खहं हाणि ॥ २०२ ॥

दिण्णहं वत्थ सुअजियहं दिव्वंवर लब्भंति ।

पाणिउ पेसिउं पउमिणिहि पउमइ देइ ण भंति ॥ २०३ ॥

१. ज. उदउ कि दिसी ठाइ. २. द. महि. ३. अ. ज.
संबंधी. ४. ज. गय०. ५. कि. चर; द. द्वर. ६. ज. छत्ताहं.
७. क. द. भव्वह. ८. ज. समाहिय. ९. ज. कि. १०. ज. द.
णंदीसरि. ११. क. द्रिणो; ज. द. द्रिणा. १२. अ. क. ज. पोसिड.

१९७. जिनघर को लिलक चढ़ाने से जगत् में अनुराग नहीं माता। चन्द्रकाम्त (मणि) चन्द्र से मिलकर पानी देने से नहीं सकता ।

१९८. जिन भगवान् को चढ़ाये हुए मणि-र्षित और विशाल चंद्रेषा (ऐसे शोभायमान होते हैं) चढ़ाने की जैसे अह और तारागणों की माला चन्द्र से सम्बद्ध हुई हो ।

१९९. जिनगृह में वजता हुआ घंटा भव्यों का उत्साहक जिनगृह में और पापहारी होता है। पूर्णिमा की गति घंटा की महिमा कुमुदानन्ददायिनी और अन्धकारहायिणी होती है इसमें भान्ति नहीं ।

२००. जिन भगवान् को खजा, चमर और छत्र चढ़ाने खजा, चमर, छत्र से राज्य मिलता है। प्रारोहों के निकलने से बट चढ़ाने का फल का विस्तार बढ़े तो क्या आश्य है ।

२०१. जिनगृह में मांडना लिखने से यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त मांडना लिखने होती है और महायुप्य होता है जिसका फल कोई का फल कह मही सकता ।

२०२. जम्बूद्वीप, समोसरण, नन्दीश्वर ये लोकों को जम्बूद्वीपादि जिनमन्त्रिदर में लिखाने से सकल दुखों की लिखाने का फल हानि होती है ।

२०३. अजिंकाओं को वन्ध देने से दिव्य वन्धों की प्रतिभा अजिंकाओं को होती है। पश्चसरोवर में पानी का प्रवेश करने से वशदान का फल वह पश्च देगा, इसमें भान्ति नहीं ।

सारंगइं पहवणाइयहं जे सावजे भण्ठि ।

दंसणु तेहि विणासियउ इत्थु ण काथउ भंति ॥ २०४ ॥

पुंगलु जीवइं सहु गणियै जो हच्छइ धणचाउ ।

ईणि सम्पतें तसु तणइं किम् सम्यनु म जाउ ॥ २०५ ॥

सम्पत्तें विणु वय वि शय वयहं गथहं शउ धम्मु ।

धम्में जेतें सुकलु गउ तें विणु गिष्कलु जम्मु ॥ २०६ ॥

हुणरा सिणहवणाहयहं पाउ लहु नि किह टेष ।

विसकणियहं चहु उवाहिजलु णउ दूसिङ्गह जेण ॥ २०७ ॥

तें सम्पत्तु महारयणु दियर्यंचलि थिरु बंधि ।

तें सहु जहि जहि जाहि जिय तहि तहि पार्वहि सिद्धि ॥ २०८ ॥

दाणचणविहि जो करइ इच्छिये भोयणिबंधु ।

विकाइ सुपणि चराहियहं सो जाणहु जाच्छु ॥ २०९ ॥

तें कम्पकखउ मग्गि जिथ णिम्मल बोहिसमाहि ।

एवणदाणपूजाहयैं जें सातयपइ जाहि ॥ २१० ॥

१. अ. द. सावज्जु. २. क. पुंगलु जीविसुहु. ३. अ. क.
द. गणिउ; ४. गणियउ. ५. अ. क. गिसमसह. ६. अ. द. लहु
किड. ७. अ. लहु. ८. क. जाह. ९. क. पावह. १०. अ. द. हच्छइ.
११. अ. क. “पूजाहयहं.

२०४. जो अभिषेकादि के लम्हाएँ ने लालू (लोक-
अभिषेक में पूरी) करते हैं उन्होंने दृश्यन का नाश कर दिया,
देख नहीं इसमें कोई भ्रान्ति नहीं ।

२०५. जो पुद्धल को जीव का साथी गिनकर धन के
निविदि से त्याग की इच्छा करता है उसकी ऐसी सम्मति से
सम्यक्त्वनाश सम्यक्त्व कैसे नहीं जायगा ?

२०६. सम्यक्त्व के बिना व्रत भी गये । व्रतों के जाने से
१) सम्यक्त्वनाश धर्म गया । धर्म के जाते ही सुख भी गया जिसके
से सुखनाश बिना जन्म निष्कल है ।

२०७. अभिषेकादि की पुण्यराशि में यदि किसी ने लघु
०) पुण्यराशि में पाप भी कर लिया तो विष के पक कण से
पापबिन्दु समुद्र भर का जल दूषित नहीं हो सकता ।

२०८. इससे सम्यक्त्व रूपी महारत्न को हृदय रूपी
सम्यक्त्व से अचल में स्थिरता से बाध । उसके साथ, हे जीव,
सिद्धि जहाँ जहाँ जायगा, तहाँ तहाँ सिद्धि प्रवेगा ।

२०९. जो भोगवंध की इच्छा से दानार्थीन विधि करता
भोगों की इच्छा है, वह जन्म का अंधा, आनो, उसम माणि को
से धर्म कौड़ी मोल बेचता है ।

२१०. इसलिये, हे जीव, अभिषेक, दान, पूजादि से कर्मों
शाळ्हनीय फल के क्षय और निर्मल बोधि समाधि की मांग कर
जिससे शाश्वत पद पर जावे ।

पुण्ण पाउ जसु मणि ण समु तसु दुतरु मवसिधु ।
कणथलोहणियलइ जियहु किं ण कुणहिं पयबंधु ॥२११॥
ण हु विगासिय देलकमलु ससरु सविहु सरेहु ।
वंछिज्जै इय कप्पयरु कामित की रंदेहु ॥ २१२ ॥

हियकमलिणि ससहस्रधवल सुद्ध फलिहसंकास ।
भाइय पडिय जिणेसरहे तोइह चउगइपास ॥ २१३ ॥
जासु हिथइ अ सि आ उ सा पाउ ण छुकइ ताह ।
अह दावाणलु किं करइ पाणियगहिरठियाह ॥ २१४ ॥

जिथ मंतइं सत्तकखरइं दुरियइं दूरहु जंति ।
अह सीहइं गुंजारियइं हरिणउलइं कहिं ठंति ॥ २१५ ॥
बिणिसयइं अ सि आ उ सा जं धासारि फलु दिति ।
इकसएण वि तं जि फलु सत्तकखरइं ण भंति ॥ २१६ ॥
गरुडइं भावइं परिणवइं रे जिय जाव हि मंति ।
ताव हि णरु विसधारियउ उद्वावैइ ण हु भंति ॥ २१७ ॥
जिणु मुण्ण देह अचेयणु वि वंदित विंदित दोसु ।
इउ जिथभावहे तणउ फलु जिणह ण रोसु ण तोसु ॥२१८॥

१ क. करहिं, २ अ. कमलदल, ३ अ. किं दिवजह.
४ अ. किं, ५ अ. द. जाहि, ६ क. ज. द. उद्वावहि.

२११. जिसके मन में पुण्य और पाप समान नहीं हैं उसे पाप पुण्य की भवसिन्धु दुस्तर है। क्या कनक या लोहे की समता ये मोक्ष निगड़ (श्रुखला) प्रणी का पादबन्धन नहीं करतीं?

२१२. स्वर, विन्दु और मात्रा सहित सप्त कमल का कमलाकार विकाश किये विना यदि कोई कल्पवृक्ष की बाज़गा सिद्धजनक की पूजा करे तो वह कामी है इसमें क्या सन्देह है?

२१३. हृदयकमल में भाई हुई चन्द्रधबल, स्फटिक के जिनप्रतिमा की समान शुद्ध, जिनेश्वर की प्रतिमा अनुर्भवि के पारा भावना का फल (बन्धन) को तोड़ती है।

२१४. जिताके हृदय में अ सि आ उ सा हैं उसे पाप अ सि आ उ सा नहीं लगता। जो गहरे पानी में स्थित है उसका (पंच-परमेश्वर) दावानल क्या कर सकता है?

२१५. पापनाशक मंत्र है जीव, इस सात अक्षरों के मंत्र से सब पाप दूर भागते हैं। सिंह की गुंजार में कहीं हरिण कुल ठहर सकते हैं?

२१६. अ सि आ उ सा का प्रतिदिन दो सौ (जप) जो फल देता है वही फल सौ से भी होता है और सात अक्षरों से भी। इसमें ऋण्टि नहीं।

२१७. मंत्र से विषनाश है जीव, जय भाँत्रिक गहड़भाव में परिणत हो जाता है उसी समय वह विष से मुर्चिछत मनुष्य को उठा देता है। इसमें ऋण्टि नहीं।

२१८. अचेतन भी जिन (प्रतिमा) बन्दने से युण और स्वभावानुसार निन्दा करने से दोष देती है। यह अपने भावों का ही फल है। जिन भगवान् को न रोप है न सोप।

मणुयत्तणु दुल्हु लहिवि भोयहं पेरिउ जेण ।
इधणकजें कप्पयरु मूलहो खंडिउ तेण ॥ २१९ ॥

दुल्हु लहिवि णरत्तयणु विसयहं तोमिउ जेण ।
पट्टोलयतम्गंथिथहं सुरयणु फोडिउ तेण ॥ २२० ॥

दुल्हु लहि मणुयत्तणउ भोयहं पेरिउ जेण ।
लोहकजि दुत्तरतरणि णाव वियारिय तेण ॥ २२१ ॥

दुष्णि सयहं विसुत्तरहं पढियहं सिवगहं दिंति ।
धम्मधेणु संदोहयहं वरपउ दिंति ण भति ॥ २२२ ॥

णयेसुरसेहरमणिकिरणपाणिय पयपोमाइं ।
संघहं जाहं समुल्लसहिं ते जिण दितु सुर्हाइं ॥ २२३ ॥

दंसणु णाणु चरितु तउ रिसिगुरु जिणवरदेउ ।
बोहिसमाहिए सहुं मरणु भवि भवि हुज्जउं एउ ॥ २२४ ॥

इय साचयधम्मदोहा समता ।

१. ज. भ. में यह दोहा नहीं है, २. क. केडिउ, ३. अ. वावी-
सुत्तरहं, ४. ज. सिवसुहु, ५. क. णव, ६. क. जे पाणियपोमाइं,
७. शुतिपाणियपोमाइं, ८. अ. क. ज. द. जाइ, ९. अ. तेण जि
णुच सहाइ, १०. अ. सिरि० ११. क. दिज्जउ एहु.

२१९. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भोगी में प्रेरा उसने इन्धन के लिये कल्पतरु को मूल से दुरुपत्रीग काट डाला ।
२२०. दुर्लभ नरत्व का लाभ पाकर जिसने विषयों में संतोष माना उसने छत्रपट में गाँड़ देने के लिये (?) उत्तम रत्न को फोड़ डाला ।
२२१. दुर्लभ मनुजत्व को पाकर जिसने उसे भोगी में प्रेरा उसने दुस्तरतरणि नाच को उसका लोहा निकालने के लिये खोड़ डाली ।
२२२. ये बीस ऊपर दो सौ दोहे पदने से शिघ्रगति वेते हैं । धर्मधेनु अच्छे दोहकों (दुहने वालों) को गढ़ने का फल उत्तम पथ (दुर्ध पा पद) देती है इसमें आनित नहीं ।
२२३. नमस्कार करते हुए देवों के सुकृटमणियों के सुख की प्रार्थना किरणरूप पानी के संसार से जिनके कमलरूपी चरण प्रकाशमान हैं वे जिनदेव सुख प्रदान करें ।
२२४. दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप, ऋषि-गुरु, जिनवरदेव अनिम विनगि और बोधिसमाधि सहित मरण, ये भव भव में हों ।

शति शान्तकधर्मीद्वादा समाप्त ।

परिशिष्ट

किसी किसी पोस्ती में लुठ लोहे अधिक पथे जाते हैं जो आक्षम ज्ञात होते हैं। वे यहाँ उद्धृत किए जाते हैं।

दोहा नं. २२ और २३ के बीच क. प्रति में—

मज्जहु तिजहु भववयणु जेण मर्दे विगरीय ।
हीणकुलेसु य जोय कही तस्थावर उद्वर्जति ॥
परिहरि मांसहु अरि जिय पंचेहिं पासी परेहिं ।
तस्तु वि थावर धाइही सम्मोळिय वहु होइ ॥

अनुवाद—हे भव्यजन मद्य को स्थानों जिसे मति विपरीत हो जाती है। वह हीनकुलवालों के योग्य कही है। उसमें ब्रस और स्थावर जीव उत्पन्न होते हैं।

ते जीव, मांस का परिहार कर। वह पंचेन्द्रिय जीवों के गाश से आत होता है। उसमें भी ब्रस, स्थावर व सम्मूळिन जीव उद्धृत होते हैं।

दोहा नं. २४ और २५ के बीच क. प्रति में—

चड ५ हंदिय विणि छह अहुह तिणि हवंति ।
दह चउरिंदिय लीचड वारह पंच हवंति ॥

इसमें जीवसेत्रों की संलग्नता है। इसके लिये 'तत्त्वार्थविगमयूज' देखिये।

दोहा नं. ३६ और ३७ के बीच क. प्रति में—

उक्तं श-सामान्यतो निशायां च जलताम्बूलमौषधम् ।
युद्धानु चैव युलन्तु नैव आहं फलादिकम् ॥

यह दोहा नं. ३७ के भाव की मुटि के लिये अन्य प्रथमे उद्धृत किया गया है।

दोहा नं. ७६ और ७७ के बीच म. प्रति में—

भगवे पञ्चमकालहिं पण स्सेणी महाव्ययधारी ।
वत्थिऽ अणुव्ययधारी कोहिं लक्खेसु कोई ॥

अनुवाद—भरतक्षेत्र में, पञ्चमकाल में, श्रेणीबद्ध महाव्ययधारी (मुनि) नहीं दीते। अणुव्ययधारी भी लाखों करोड़ों में भी होता है।

दोहा नं. १८१ और १८२ के बीच क. प्रति में—

जिणु एहावह उत्तमरसहि सक्तरव्यम्भवेहि ।
सो नह जस्मोवद्वि तरहि इत्यु म भंति करेहि ॥
जो धियकंचनवण्णद्वृ जिणु एहावह धरि भाउ ।
सो दुश्चाह गह अवहरइ जम्मि पण दुक्कह पाउ ॥
दुखें जिणवह जो गहशह मुत्ताहलधवलेण ।
सो संसारि पण संभवह मुश्चह पावमलेण ॥
तुद्दहडाहडि उत्तरह दहडवड दहिड पडंति (°तु) ।
भवियहं मुश्चह कलिमलहं जिणविहृउ विहसतुं ॥
सञ्चेष्टहि जिणएहाहियहं कलिमलरोय गलंति ।
मणवंक्षियस्तय संभवहं मुषिगण पम भर्ति ॥

अनुवाद—जो जिन भगवान् को शक्ति और आप्ति के उत्तम रसों से नहलाता है वह नर जन्मोदयि को तरता है इसमें ग्राहि मत करो।

जो कंचमवर्ण यृत से जिन भगवान् को साव धारण कर नहलाता है वह दुर्गति गति को दूर करता है और जन्मभर उसे पाप नहीं लगता।

जो मुक्षाफल के समान धबल दूधसे जिनकर को लान करता है वह संसार में उत्पन्न नहीं होता और पापमल से मुक्त होजाता है।

दुध की धार के पश्चात् विद्यु दृष्टि पड़ता हुआ तथा जिन भगवान् को देलवर प्रसन्न होता हुआ भव्यों को कलिमल से मुक्त कर देता है।

सर्वोपरि से जिन भगवान् को भद्रलाने से कलिमल के रोग दूर हो जाने हैं और सेकदों स्मनोवात्रित मिद्द होते हैं। ऐसा मुनिगण कहते हैं।

दीहा नं. २०६ और २०७ के बीच अ. प्रति में—

परमभद्र एव विष्णाव्यरु जे सावय जि भर्णति ।

द्वसण तेहु विणासियउ पत्तु ण कायउ भंति ॥

(यह दीहा नं. २०४ से मिलता है)

दीहा नं. २२३ और २२४ के बीच क. प्रति में—

जो जिण स्वासण भासियउ सो महं कदियउ सारु ।

जो पालेसइ भाड करि सो तरि पावइ पाइ ॥

एहु धम्म जो अयरइ चउवण्णाहु मह कोइ ।

सो णह णारि भव्यणगु सुरवइ पायइ सोइ ॥

काई बहुलाइ हाँखियाँ तालू सखाह जेण ।

यहु परमाक्षर चेर लहू कामकलउ सुह तेण ॥

भवयलगास सुवयण सुगाइ गच्छू तेण ।

जह दिन्हिवउ भवगयह कहिउ ण किवउ तेण ॥

अनुवाद- जो जिनशासन में कहा गया है वही सार में कहा है।
ओ भाव करके इसको पालेगा पद हीर के पर पादेगा।

इस घर्ष का अनुर्वंश में से कोई भी जो आचरण करेगा वह नरनारी
भव्यजन सुरगति पायेगा।

बहुत प्रलाप करने से नथा जिससे तालू सूले। इसी परमाक्षर को
चिरकाल तक लेओ जिससे कर्मक्षय होवे।

मन्यों के जो सुवचन हैं उनसे सुगति को जाता है। जिससे भवगति
को देखना पड़े ऐसे कथन को नहीं करना चाहिये।

दोहा नं. २५४ के पश्चात् क. प्रति में—

इय दोहावद्वयधम्मं देवसेनै उचिद्धु ।

लहु अष्टरमस्ताहीयमोपय सयण खमंतु ॥

अनुवाद- इति देवसेन द्वारा उपदिष्ट दोहावद्धु वतधर्म। लघु अक्षर
मात्रा से हीन जो पद हीं उन्हें सज्जन करें।

शब्दकोश

इस कोष में संशयों विना विभक्ति के तथा कियाये यथाप्रयोग सम्बलित की गई है और उनके संस्कृत रूपान्तर दिये गये हैं। जो संस्कृत शब्द हिन्दी में उपयुक्त नहीं होते उनके हिन्दी रूपान्तर या समानार्थ शब्द दे किये गये हैं। जो शब्द कईवार एक ही अर्थ में आया है उसका एक ही दीहा नंबर दिया गया है।

निम्न लिखित संकेताक्षरों का प्रशोग किया गया है:—

गु. — गुजराती; पु. — पुरुष; म. — मराठी; मार. — माराठाडी; हैम. — हेमचन्द्र कृत प्रकृत व्याकरण.

अ	
अहिदित्त — अतिदीप्त, १७२.	अज्ञेयण — अज्ञेतन, ३१८.
अहदुरुचिन्त्य — अतिदूरोपित्तत,	अन्नाइ — अन्नयति, पूजता है, १८५
१७१.	अन्नडुड — आस्ताम्, दूर रहे, ३०.
अक्षमि — आव्यामि, कहता हूँ, १.	अज्जु — अधा, आज, ८८.
अक्षम्य — अक्षत, १४५.	अज्ज्ववसाय — अध्यवसाय, १२२.
अक्षित्य — आव्यात, १७८.	अट्ट — अट्ट, आट, ३०.
अगालिअ — अगालित, विनाछना,	अट्टम — आष्म, आठवां, १५.
२७.	अट्टमि — अष्मी, १३.
अगाह — अगाव, १८६.	अणतोरिय — अ-न-तुवरित, ५६.
अम्बि — अम्भि, आगी, ३९.	(तुवरी - फिटकरी, म-
	तुरटी, alum.)

अणतथ - अनर्थ, ४८.
 अणाअ - अन्याय, १४४.
 अणशोलिय - अनुकूल, विना
 बुलाया, ११५.
 अणायसण - अन्यायतन, २०.
 (कुगुरु, कुदेव, कुशाख, तथा
 इन तीनों के पूजने चाले थे
 छह अवायतन कहलाते हैं।)
 अणिवारिय - अनिवारित, १३२.
 अणुमद - अनुमति, १६.
 अणुराग - अनुरग, २५.
 अणुवय - अणुवत, ५९. (हिंसा,
 चोरी, छह, कुरील और
 परियह इनका गुहस्थ के
 सधने वोग्य अणुरुप त्याग
 को अणुवत कहते हैं।)
 अणुसरहि - अनुसरनि, अनुस-
 रण करते हैं, ११७.
 अण्ण - अन्य, ३५.
 अण्णाअ - अन्याय, १४५.
 अण्णावपयिति - अन्याय+प्रश्नति
 १४६.
 अण्णुवद्दु - अन्य+उपदिष्ट, २४.
 असागम - आप्त + आगम, देव
 और शास्त्र, १९.

अत्थमिय - अस्तमित, सूर्यास्त,
 ३७.
 अपत्त - अपात्र, ५८.
 अप्यणअ - आत्मनः, अपना, ८४.
 अप्यणिय - आत्मीय, अपनी, १४६
 अप्यस्थ - अपश्य, ४१.
 अपिय - अपित, ८४.
 अभयदाण - अभयदान, १५६.
 अमिअ - अमृत, २.
 अमिद्यवड - अमृत+घट, १६८.
 अमियसरिल - अमृतसहश १७८
 अयाण - अजानत्, अजान १५७.
 अरहंत - अहंत, ४.
 अलिय - अलीक, असत्य, ६१.
 अलिय - अलि (भ्रम), अलीक
 (असत्य), १७३.
 अचगणिण - अवगणय, मिनो, ३०
 अघर - अपर, बीर, १११.
 अचल - अवशाम्, अवश्य, ३९.
 अचसि - अवशाम्, अवश्य, ६०.
 अधिण - अविज, पार, १००.
 अविरय - अविरत, व्रतरहित, ७९
 असक्त - अशक्त, १६८.

अ सि आ उसा - अहंत, सिद्ध,
शाचार्य, उपाधान, साधु,
हन पंच परमेश्वी का अल्पाक्षर
मंत्र, ३१४.

असैस - अशेष, १६५.

असोअ - अशोक (रूप), १७१.

अह - अथ, २६.

अह व - अथ वा, ६.

अहम्म - अधमे, अधर्मी, १०३.

अहरणअ - आभाणक, अहाना, १४

अहिलसह - अभिलवने, हृच्छा
करता है, ४२.

अहिलसिअ अभिलविन, ३७.

अहिलास - अभिलाप, ५१.

अंजणगिरि - अंजनगिरि २९.

अंतरि - अन्तरे, अन्दर, २२.

अंधार - अंधकार, ६.

अंष - आंश, आम, १६०.

आ

आउ - आथातु, अबे, ५८.

आउसंत - आयुस+अन्त, ७३.

आमिस - आमिष, मांस, ३८.

आयरह - आचरति, आचरण
करता है, ७६.

आयह - एवाम्, इनके, २२.

आयास - जाकाश, ५७.

आरस्तिअ - आरात्रिक, आरती,
१९५.

आराहण - आराधना, १९३.

(भगवती आराधना नाम
का ग्रंथविशेष)

आवह - आवाति, आवे, ८८.

आवरण - आरूढ, बढ़ा, १४८.

आवंति - आयाम्ती, आती, १४३.

आसागाय - आशा+गत, दिशाग-
मन, ६६.

आसायअ - आसादित, २१.

आसि - आसात्, १५६.

इ

इकछिदिय - एक+छिद्रिन, १६१.

इक - एक, ४३.

इकसअ - एकशत, २१६.

इच्छय - इष्ट, १३०.

इच्छयलगि - इष्ट+लग्नि, ७१.

इणि - अनेन, इस से, २०५.

इसिथ - इयत्, इतना, १०७.

इत्यु - अत्र, इसमें, ७१.

इयर - इतर, अन्य, ३८.

हाँडिय - श्वा, इच्छा करके, ६३.
हंदियगाअ - हन्त्रिय+गाम, १४०.
हंधण - हन्धन, २१९.

उ

उक्किहु - उक्काई, ७४.
उग्गमह - उद्गृहयति, उदय हो,
 १०५.
उग्घाङ्गत - उद्+घाङ्गयत्, उषा-
 इने बाले, १३१.
उज्जल - उज्ज्वल, ११३.
उज्जोर्जाह - उद्+गृहयते, उजाला-
 किया जाता है, १८४.
उज्जेयह - उद्+जीयतयति, उजाला-
 करता है, १९६.
उद्गृह - उत्तिष्ठति, उठता है, २९.
उद्गृहवह - उत्थापयति, उठता है,
 २१७.
उद्ग्रीय - उत्थित, उठा हुआ, १५३.
उण्टली - शावविशेष, ३४.
उण्णय - उवति, ११४.
उत्तमपह - उत्तमपदे, ०५८८,
 ११४.
उत्तार - उत्तरण, उत्तार, ११३.

उत्तारंसि - उत्तारयन्ती, उत्तारती
 हुई ०६.
उत्तिष्ठत - उत्तरीय, बक्ष, १५९.
उद्दिष्ट - उद्देश, १६.
उप्पज्जाइ - उत्थयते, उपजता है १७१
उप्परि - उपरि, ऊपर, १२६.
उप्पहि - आत्मना, उपतकर ८४.
उप्पाङ्गिअ - उत्पान्तित, उपाङ्गा,
 ४०.
उत्तमास्तह - उद्+मासयति, उत्त्वल
 करता है ११६.
उत्तममा - उत्तमार्गी, १४५.
उर - उरस्, उर, ६०.
उल्हाविथ - अर्दित, आला
 (गीला) किया, ३५.
उवद्गु - उपदिष्ट, १६.
उवाएस - उपदेश, ६.
उवपासिय - उपदिष्ट ८.
उवयरह - उपकरोति, उपकार
 करता है, ११९.
उवयारहि - उपकारय, उपकार
 कराओ, ११९.
उवयास - उपवास, १३.
उवयासभास - उपवास+अभ्यास
 ११२.

उवसमइ उपशम्यति, शांत होता है, १४२.

उचहि - उदधि, २०७.

उचहिणीर - उदधि+नीर, ८९.

उचहिवेल - उदधि+बेल, १९५.

उच्चरह - उपकरोति, उचारता है, था, उद्गतैते, बचता है, १३१.

उहय - उमय, द्वीनो, १३.

उंदर - उंदुर, मूषक, १५१.

ओ

ओसर - ऊसर, ऊसर (अनुग्राम) ८३.

ए

ए - एते, ये, १८.

एउ - एतत्, यह, २२४.

एङ्क - एङ्क, १०.

एत्तडअ - एतावत्, इतने, ५३.

एववत्थ - एकवल्ल, १७.

एयरस - एकादश ग्यारह, १८.

एयारह - एकादशी, ग्यारह, ९.

एयरहम - एकादशम, ग्यारहवाँ १६.

एरिस - ईहश, ऐसी, १७५.

एच्छु - एतावत्, इतनी १७९.

एवंविह - एवंविधि, इस प्रकार, १८०.

एह - एहा, यह, १३९.

एहु - एहः, यह, २४.

ओ

ओसहदाण - ओपथदान, १५७

ओहड्डुइ - अपभ्रश्यति, घृटता है, १४९.

क

कआ - कृत, किया, ८३.

कड - का, वया, ६८.

कक्षसवयण - कर्केश+वयन, १४४

कञ्च - काच, कांच, ३.

कञ्चालण - अपकाशन, कञ्चा भीजन, १४.

कञ्ज - कार्य, ३१.

कट्टिय - कृत, काढा गया, ११०.

कट्ठ - काटे, काठ, ३६.

कट्टडा - कठ, ११४.

कझुंत - कर्षित, काढनेवाला, ५५.

कट्टिय - कृता, काढा गया खींचा, १२१.

कणय - कनेक, २१३.
 कणिङ्गु - कणिए, सबसे छोटा ४५.
 कणण - कर्ण, कान, ११८.
 कत्तरि - कत्तरी, कैची, १७.
 कदम - कर्दम, कीच, १५३.
 कण्ठड - कर्पट, कपड़ा, ५६.
 कण्ठयर - कल्पत्रु, ९७.
 कण्ठयरु - कल्पत्रु, २१३.
 कम - कम, १२.
 कम्म - कर्म, १०३.
 कम्मक्स्लअ - कर्म+श्ल, २१०.
 कय - कृत १७.
 करद - करोति, करता है, १०१.
 करउं - करोमि, करे, ८८.
 करड - शाकविशेष, करडा, ३४.
 करहि - कुरु, कर, ४.
 करहि - कुर्वन्ति, करते हैं, ५५.
 करालिय - करालिय, १८३.
 करि - कुरु, कर, २२.
 करिणि - करिणी, हस्तिनी, १२३.
 करेह - कुर्वत्, करेगा, ६३.
 कलंतर - कल्यांभन्तर, एक भाग
 ११५.
 कलिय - कलविशेष, कर्णीदा, ३४.

कलाण - कल्याण, ८०.
 [तीर्थकर के गर्भ, जन्म, तप,
 प्रान और निर्वाण के उत्तराद
 पञ्च कल्याण कहे जाते हैं।]
 कलि - थः, कल, ८८.
 कवण - का, कौन, ४०.
 कवित - कवित्व, १४३.
 कधेड़अ - कपट, ६२.
 कस - कश, ३.
 कसाय - कशाय, ६१.
 कह - कथा, ४०.
 कहिअ - कथित, ९.
 कग्निहि - वज्रविद्युत, १०१.
 कहि - कुत्र, कही, २१५.
 केज - (तत्सम), कमल, १३५.
 कंजिय - कंजी, (Butter-
 milk,) ११३.
 कंटअ - कंटक, १४५.
 कंदि - स्कन्द, शूष्क, सूखा, १५७.
 काअ - काय, शरीर, ११३.
 काहि - किस्, क्या, ६२.
 काणण - कानन, बन, २३.
 कामकहु - काम+कथा, ४५.
 कामिज - कामिक, २१३.

- कायड - कापि, कोई भी, १८९.
 काराचिय - कारित, कराडि, ११२.
 कारियइ - कार्यने, कराया जाना
 है, २४.
 कालत्तय - काल+त्रय, ५.
 कासु - कस्य, किसे, १७८.
 कि - किम्, क्या, ६.
 किय - कृत, किया, ३७.
 किति - कीति, १४२.
 कित्तिथ - कियत्, कितना, १४३.
 कित्तिअ - कियत्ता, कितनापन,
 ११०.
 किम - किम्, कैसे, ५६.
 किमि - किम्, कैसे, ६७.
 किय - कृत, किया, १५५.
 किटेस - टेजा ४८
 किविण - कृषण, ८३.
 कीरइ - कियते, किया जाना है, २४.
 कुडिलिय - कुण्ड, ११३.
 कुडंब - कुटुम्ब, ४८.
 कुणहि - कर्वन्ति, करतीं, २११.
 कुएत्त - कुपान्त, ४१.
 कुभोज - कुभोज, ८१
- कुभोयण - कुभोजन ९३.
 कुमुखाणंदिणि - कुमुदानन्दिनी,
 १९९.
 कुलयर - कुलक, १६६.
 कुसियार - कोक्कार, कुसियारा,
 (रेशम का कीड़ा) १४६.
 कुसुमंजलि - कुसुमांजलि, १११.
 कुड - कूद, ४९.
 कुडतुला - कूटतुला, कगठतराजू,
 १६२.
 कुचखण्य - कूप+खनक, १०३.
 कुवय - कूप+क, कुआ, ५९.
 केम - किम्, कैसे, १३८.
 केवलणाण - केवलज्ञान (सर्व-
 ज्ञान) ५.
 कोइ - कोइपि, कोई, ६.
 कोधीण - कोपीन, १७.
 कोहमल - कोध+मल, १३१.

ख

- खअ - क्षय, ६९.
 खडमुस - घास+खुप, घासमुसा,
 ९२.
 खडहड - दिला+घडा, चट्ठनसमूह
 म. खडक-चट्ठन, १५४.

खदाह — खादति, खाता है, ३२.
खदहं — खादितेन, खावेसे, ३६.
खम — कम, योग्य, ७.
खंचहि — कर्ष, सैच, १३०.
खंडिय — खंडित, काटा, २१९.
खंडिवि — खंडित्वा, काटकर,
 १५२.
खंधार — संधारार, सेना, ५१.
खाह — खादति, खाय, २८.
आधि — खानि, ४८.
खार — क्षार, खार, ८१.
खरिघड — क्षार+घट, खारा घड़ा,
 ८१.
खिलिय — कीलिका, खिली, १०६
खीरसमुद्र — क्षीरसमुद्र, १६९.
खुद्दइ — खुज्जते, खुट्टे, १०८.
खुडिय — खुडित, खोटे गये, १५२
खोसिय — क्षेत्रिता, खेती, ६४.
खेती — क्षेत्रिता, खेती, ५१.
खेरि — द्वेष, १३५.
खेवह — द्विषति, खेता है, १०९.
खोज — अन्वेषण, खोज, ८४.
खोलय — खुडित, खोड़ा लगी,
 १४८.

ग

गज — गत, गया, ६९.
गच्छह — गच्छति, जाता है, ४६.
गढायरठ — गर्तक, ५८.
 (a table for playing
 dice, Apt: Dice.)
गणिय — गणित्वा, गिनकर, २०५
गमणद्विय — गमन+स्थित, १९२.
गय — गत, ३.
गय — गज, १८७.
गयण — गगन, १३२.
गविणिङ्गु — गवि+निष्ठा, इन्द्रिय+
 आसक्ति, १६४.
गह — प्रह, १९८.
गहिय — गृहीत, १०७.
गहिर — गभीर, गहिरा, २१४.
गंधोआ — गंधोदक, १८४.
गाह — गौ, गाय, ९२.
गाल — गल, मछली फकड़ने का
 कोटा, १२४.
गालिअ — गालित, गाला था छाना
 हुआ, २६.
गिणहह — गृणहाति, गहता है, १६२.
गिर — गिर, गिरा, वाणी, १७८.

गिहत्थ — एहस्थ, ८७.

गिदुआ — केंद्रुक, गैद, १५३.

गिभ — ग्रीष्म, ६९.

गुणवय — गुणवत, ११ (दिशाओं
व देश-प्रदेश में जाने का
प्रमाण, तथा अनर्थ दण्ड का
लाग, ये तीन गुणवत कहा-
लाते हैं).

गुणवत — गुणवत्, गुणवान्, १४१.

गुलिय — गुलित, गुडीला (मीठा)
१३३.

गुजारिय — गुजारित, गुजार,
२१५.

गेय — (तत्सव), गीत, १२७.

गेहोबरि — गेह+उपरि, १०३.

गोत्त — गोल, ४८.

गोधहि — गोपय, गोप या गुप्तरख,
१२१.

घ

घडंति — घटायन्ते, घटगुच्छ होते
हैं, ५५.

घम्म — घर्म, घाम, १०३.

घयपय — घृत+पयस्, घी दूध,
१८१.

घर — मृद, ८७.

घरयर — गृहकर, घर बनाने वाले,
१०३.

घलुइ — द्विष्टि, प्रालता है, १६५.

घंट — घंटा, ११९.

घाआ — घात, घाव, ६०.

घाठिणिय — प्राणेन्द्रिय, १२५.

घाय — घात, ७.

घारह — मूर्च्छायनि, मूर्च्छित करती
है, ५०, म. घेरी-मूर्च्छा.

घिय — घूल, घी ३२.

घूयड — गुण्युल, बुग्यू, १०५.

च

चावि — व्यक्त्वा, अथवा या खाय-
कर, ७३.

चउगाइ — चतुर्गति, १३४.

चउत्थ — चतुर्थ, १३.

चउहसि — चतुर्दशी, १३.

चउरदु — चतुरष्ट, (बत्तीस), १२.

चउविह — चतुर्विध, १५८.

चउसट्टि — चतुःषष्ठि, चौसठ, १७६

चाकि — चक्रिन्, चक्रवर्ती, १७३.

चक्खार — चक्रति, चक्रता है, १६०

चाथाइ — अर्वयति, पूजता है, १८४

चहफ़क़डहि — परिस्फुरति, तड-
फढ़ते हैं, १८४.

चाढ़पकरेडवि — परिस्फुर्य, तड—
फडाकर, १२४.
चढहिं — आरेहन्ति, चढते हैं,
१०३.
चत्तारेभ — त्यक्त+आरम्भ, आर-
समत्यागी, १५.
चम्मच्छुभ — चम्मच्छादित, ३२.
चम्मद्विषुर — चमे+अस्थि+षुरा,
३२.
चयारि — चत्वारि, चार, ११.
चरिता — चरित, १३३.
चरित्स — चरित्र, २२४.
चलण — (तत्सम), चरण, १७३.
चलिय — चलित, ३५.
चल्लूत — चलत्, चलनेवाला, १४५.
चवाहि — शूहि, बोल (घातु-बच्)
६१.
चंडाल — चाणडाल, १३१.
चंद्रकंति — चन्द्रकान्त (मणि),
१९७.
चंदण — चन्दन, १५०.
चंदोब — चन्द्रोपक, चंदेला, ११०.
चाअ — त्याग, २५.
चाहहि — इच्छसि, चाहता है, १५९
चिराडस — चिरायुस्, चिरायु,
१५६.

चिहुर — चिकुर, केश, १७.
चिघ — चिह, ध्वज, २००.
चोञ्ज — झाञ्चयै, चौज, २००.
चोरडा — चौर, चोर, ७५.

छ

छटुय — षष्ठम, छट्टवाँ, १४.
छहिय — छहित, छोड़ा, ३९.
छणजामिणि — क्षण+यामिनी,
पूर्णिमा रात्रि, १९५.
छणससि — क्षण+शशि, पूर्णिमा
चन्द्र, १७०.
छस — छत्र, १७७.
छह — षट्, छह, २०
छंडहु — छर्यय, छोड़ो, १७५.
छंडिल — छर्दिय, छोड़ा, ६७.
छंडिय — छर्दित, छोड़ा, २५.
छंडेइ — छर्देत, छोड़े, १३.
छिज्जउ — क्षीयताम्, क्षय होवे,
१३५.

छित्त — सृष्ट, छुआ, १३१.

छुड — यदि, ५८.

छेय — छेद, ७.

ज

जह — यदि, २५.

जग - जगत्, जग, १९४.
 जाणणि - जावनी, १६७.
 जमभड - यम+भड, ८८.
 जम्म - जन्म, १३.
 जम्मुच्छव - जम्मोत्सव, १६८.
 जलहि - जलपि, ८५.
 जस - यशस्, यश, ४८.
 जसु - यस्य, जिसका, ५.
 जह - यथा, जैसा, २१.
 जहण्णा - जबन्य, ७४.
 जहिं - यथा, जहाँ, ५३.
 जं - यत्, जो, ४.
 जंति - यान्ति, जाते हैं, ८.
 जंपिय - जलिपत, कथित, १०८.
 जंबूदीआ - जम्बूदीप, २०२.
 जाआ - यात, यथा, ५८.
 जाऊ - यातु, जाय, २०५.
 जाच्छंध - जात+अंध, २०९.
 जाण - यान, १०२.
 जाणहु - जानीहि, जानो, २०९.
 जाणि - जानीहि, जानो, १५.
 जाणिज्जइ - हायते, जाना जाता है,
 २७.
 जायह - जायते, होता है, ६६.

आहि - यासि, जाय, ३०८.
 जिअ - जीव, ५९.
 जिणणहात - जिननाथ, १४६.
 जिणतित्थ - जिनतीर्थ, ११७.
 जिणहर - जिनगृह, ११९.
 जिणिंद - जिनेन्द्र, ११०.
 जिणेश्वर - जिनेश्वर, १७३.
 जित - जित, जीता, ५१.
 जिञ्जिमदिय - जिह्वेन्द्रिय, १३४.
 जिम - यथा, जैसे, ३.
 जिय - जीव, ४.
 जियगहियतण - जिहा+गृहीत+
 तृण, ४६.
 जियवह - जीव+वध, ६६.
 जिह - यथा जैसे, ३.
 जीवियलाहड - जीवित+लाभ,
 ११९.
 जीहडी - जिहा, जीम, १२९.
 जुम्मा - योग्य, ३१.
 जुत्त - सुक, ३०.
 जूआ - शूल, जुंबा, ३८.
 जूय - सुग, जुंबा (Yoke), ३.
 जे - ये जो, २०.
 जेण - येन, जिसने, २.

जैम — यथा, जैसे, १३४.

जोड़िय — योजित, जोड़े हुए, ११४.

जोयहि — पदयन्ति, जोहते हैं, ११८

झ

झायहि — ख्याय, ख्यन कर, १०८

झुणि — खनि, १७८.

झ

झालह — झालयति, भग्न करता है,
१५१.

टिक — टीका, १९३.

ठ

ठंसि — तिष्ठन्ति, ठहरते हैं, ५४,

ठाअ — स्थान, ठोव, १६९.

ठाह — तिष्ठति, ठहरता है, १९७.

ठाण — स्थान, १८.

ठाहरह — तिष्ठति, ठहरता, १३३.

ठिअ — स्थित, १३२.

ठिय — स्थित, २१४.

ड

डज्जंत — दक्षमान, ढाते हुए, ५२.

डरहि — वस्यति, डरता है, १५६.

डल — दल, पीतल आदि नीच
भाग, १३६.

डहह — दहति, ढा देता है, १३.

डाल — शाक्षा, खल, ६१; ९५.

ढ

ढिल — शिथिल, ढीला, १२९.

ढुक्रह — ढीक्रते, आवे,
६०; ११२; १८७.

ण

ण — न, १०.

ण — नु, ननु (निधयार्थवाचक
अन्य) ८४, १३७, १४३,
१९२, १९६.

णदसारिण — नदी+सारण, १८६.

णखह — नृत्यति, नाचता है, १६३.

णडपेश्वण — नठ+प्रेश्वण, नट का
तमाशा, १६१.

णमकोरपिणु — नमस्कृत्य, नमन
करके, १.

णमिय — नमित, नवी हुई, ५७.

णय — नत, २२३.

णयणांद्यरि — नयनानन्दका-
रिणी, १७९.

णर — नर, ४४.

णरत्तयण — नरत्व, ३१०.

णरथ — नरक, ४३.

णरयणह — नरकगति, १६१.

णवइ	- नमति, नवता है,	११६.
णवम	- नवम, नैमां, ११३.	
णं	- ननु, २७.	
णद्व	- नन्द, आनन्द, १३५.	
णन्दीसर	- नन्दीधर (दीप)	
		३०३.
णाअ	- नयाथ, ११३.	
णाहक	- नायक, ५१.	
णाण	- ज्ञान, ५.	
णाणुग्राम	- ज्ञानेदूम, १७०.	
णाथ	- नाग, १७७.	
णायकुमार	- नागकुमार, पु.,	
		१११.
णायदर्श	- नामदत्त, पु., १११.	
णारि	- नारी, १४.	
णात्र	- नौ, नाव, ३५४.	
णाविय	- नाविक, १५४.	
णास	- नाश, १८४.	
णासइ	- नाशयनि, नाश करता है,	
		२३.
णासंति	- नश्यन्ति, भाग जाते हैं,	
		७५.
णासंति	- नश्यन्ति, नष्ट होते हैं,	
		१३८.
णाहि	- नहि, १४.	

णिवसइ - निवसति, वसता है,
५४.

णिवरहि - निवार्य, निवार,
१२६.

णिवास - निवास, १४३.

णिविदु - निविष्ट, वैष्ट, ६१.

णिविति - निविति, १०.

णिव्याण - निर्वीण, ५९.

णिव्याह - निर्वीह, १४९.

णिसेणि - निश्चेणी, नसेनी, ५०.

णिहाण - निधान, ८०.

णित - नयत्, ले जाता हुआ, ८५.

णिति - नयन्ति, ले जाते हैं, ५९.

णिदित - निन्दित, २१८.

णीर - गीर, पानी, २६.

णीरुक्ख - निर्वृक्ष, ७७.

णेह - क्षेह, १५१.

णेवज्ज - जैवेय, १८७.

णह्यणाइय - छप्यादिक, २०४.

णह्यविजाइ - ज्ञाप्यते, वहलाया
जाता है, १४१.

णह्याण - ज्ञान, १३१.

णह्यवद - ज्ञाप्यति, वहलाया है,
१४१.

णह्यविजाइ - ज्ञाप्यते, वहलाया
जाता है, १६८.

णह्यविथ - ज्ञाप्ति, वहलाया गया,
१६८.

णह्यविय - स्त्रायवित्वा, वहलाकर,
१८३.

त

तज - तपस्, तप, ७.

तउमंडय - तपोमंडित, ३१.

तभोग्यिय - तद्+प्रथिय, मांड,
२२०.

तच्चाइय - तत्त्व+अदिक, १८.

तडसि - तद् इति शब्देन, तद् से,
१००.

तणइ - (सम्बध सूचक), २०५.

तणु - तजु, शर्मर, १०७.

तमहरणि - तमोहारिणी, ११३.

तमिण - तमया, तम से, ३.

तरद - तरति, तरता है, १३४.

तरिहति - तरिष्यति, तरेया, ६७.

तरंड - (तलसम), ढीगी, १९३.

तरात्र - तडाय, तलाव, १७०.

तवयरण - तपश्चरण, ७३.

तस - त्रस (जंगम जीव), २१.

तसु - तस्य, दिसके, १२.
 तस्मा - तस्मात्, तिसे, १०१.
 तर्हि - तब, तदा, ५४.
 तं - तत्, तिसे, १९.
 तंबोलोसह - ताम्बूल+जौषध, ३७
 ता - तहि, तो, ३९.
 ताई - ताजि, ते, ५९
 ताडिअ - ताडित, १५३.
 तामच्छुड - तावत् आस्ताम्, तो
 रहे, ३१.
 तारत् - तारयति, तारता है, ८४.
 तारायण - तारागण, १९८.
 ताल - रुक्षानिशेष, १०३.
 ताखु - तस्य, ५.
 तरहं - लेपाम्, लिके, ३०.
 तिज्जन - तृतीय, तीजा, १२.
 तिडिक - स्फुर्किंग, तिलगा, ३३.
 तिणि - त्रीणि, तीग, ३०.
 तित्यु - तब, तदा, ११५.
 तिथंकर - तीर्थंकर, १६६.
 तिरिय - तिर्थक्, पश्च, १७५.
 तिलय - तिलक, १९३.
 तिल - तेल, तेल, ३३.
 तिव्यकसाय - तविकसाय, १६१.

तिह - तथा, तैसे, ३.
 तिहिं मि - त्रिपु अपि, तीनों में, ११
 तिहि - त्रिभ्याम्, तीन से, ७४.
 तुड - त्रुटित, दृढ़े, १५२.
 तुद्धर - त्रुत्यति, दृढ़ता है, ४४.
 तुडइ - त्रुत्यति, विगड़ जाता है,
 १२३.
 तुलाइय - तुला+आदिक, ४९.
 तुंवड - तुम्हाँकल, तंशा, ३४.
 तोडइ - श्रोटयति, तोड़ती है, २१३.
 तोडहुं - श्रोटयितुम्, तोड़ने की,
 ६४.
 तोस - शोष, २१८.
 तोसिअ - तोषित, २२०.

थ

थक्कइ - तिष्ठन्ति, उहरते हैं, ५३.
 थलदुक्ख - स्थलन्दुख, १२५.
 थाम - स्थामन्, बल, १८३.
 थिप्पति - तुप्यन्ति, तृप्त होते हैं,
 या विगलन्ति, १७ (हैम. ४,
 १३८; १७५)
 थिर - स्थिर, २०८.
 थोडउ थि - स्थोकमपि, थोड़ा
 भी, ३३.
 थोडिय - स्थोका, थोड़ी, ११२.
 थोवड - स्थोक, थोड़ा, ९०,

द

- दहु - दह, दशा हुआ, ६३.
 दम्म - दाम, एक दिक्षा, ११५.
 दय - देया, ४०.
 दसम - दशम, दशवाँ, १६.
 दहिमहि - दधि + मथित, दही मही, ३५.
 दंसण - दर्शन (सम्यगदर्शन, धर्म अदा), २०.
 दंसणसुखि - दर्शन+शुखि, ३२.
 दान - दान, ७०.
 दाणचण - दान+अचैन, ११७.
 दार्थधिव - दान+धेत्रिप, दानवृक्ष, ४२.
 दायार - दातृ, दाता, ८५.
 दारिय - दारिका, लोडी, ४५.
 दालिह - दारिथ, १८७.
 दालिहङ्ग - दारिच, ९३.
 दालिहिय - दरिद्रिन्, दरिद्री, १४८.
 दावाणल - दावानल, २१४.
 दिजाइ - दीयताम्, देना चाहिये, ७०.
 दिहु - दहा, देसी महि, ५५.

- दिहु - दहि, ६३.
 दिहुविस - दहिविष (सर्वविशेष), ६३.
 दिणयरसअ - दितकर+शत, सी सूर्य, १०५.
 दिणेस - दिनेश, सूर्य, ६९.
 दिण - दत्त, दिया हुआ, ८३.
 दिणह - दीथते, दिया जाय, ८३.
 दिति ~ ददति, देते हैं, १९०.
 दिवि - (तत्त्वम्) स्वर्य में, १३१.
 दिव्यवंचर - दिव्य+अम्बर, ३०३.
 दिस - दिशा, ६६.
 दीध - दीप, १८८.
 दीषड - दीपक, ६.
 दीसह - देखते, देसी जाती है, ८५.
 दुकर - दुष्कर, ६४.
 दुक्तिय - दुक्ति, १३.
 दुमा - दुमी, दुर्गम, १४८.
 दुजाण - दुजैन, २.
 दुदुभरण - दुष्ट+भरण, ६७.
 दुणिसयई - द्वि+शत, दो सी, ३३३.
 दुस्तर - दुस्तर, २३१.
 दुस्तरतरणि - दुस्तर+तारिणी, २२१.

दुख - दुःख, ६५.
 दुच्छल - दुर्वल, १४९.
 दुरिअ - दुरित, पाप, १८७.
 दुल्ह हुल्हम, ३.
 दुविह - द्विविध, १६.
 दुब्बयण - दुविलत, ८०.
 दुह - दुर्घ, १२३.
 दुहकम - दुष्कर्म, १.
 दुंदुहि - दुंदुभि, १७५.
 दूरि - दूरम्, दूर, २२.
 दूरिदलिय - दुर्दलित, १.
 दूरीकय - दूरीकृत, १५८.
 दूसइ - दूषयति, दूषित करता है,
 १३३.
 दूसिज्जइ - दूषयते, दूषित होता,
 २०७.
 देह - ददाति, देता है, १६.
 देव - देवः, ५३.
 देउल - देवालप्र, म. देवल, १०६.
 देखेवअ - दृष्टव्य, देखना, ३९
 दो - द्वि, दो, २८.
 दोस - दोष, १९.
 दोसडा - दोष, ८६.

ध

धण - धन, ३८.
 धणकण - धान्य+कल्प, धन-
 धान्य, ९३.
 धणवाइ - धनलय, २०५.
 धणिथ - धनिक, ४४.
 धण्ण - धान्य, ६४.
 धषण - धन्य ११८.
 धत्तूरिय - धत्तूरिक, धत्तूरा धीने-
 वाला, १३६.
 धम्मधखर - धर्म+अक्षर, ११८.
 धम्मधेनु - धर्म+धेनु, ३२२.
 धम्मधिव - धर्म+अधिव (वृक्ष),
 ४०.
 धम्मायत्त - धर्मायत, ४.
 धरणाहं - धरणाय, धरा या रोका
 जाना, १३९.
 धरणिद्र - धरणेन्द्र, ७२.
 धवलण - धवलत्व, ११४.
 धवलावह - धवलायते, धवल
 करता है, ११४.
 धीनर - (तत्सम्) दीनर, ३७.
 धुणियरय - धुतरजस्, मैल दूर
 करके, ७४.

धूअ - धूष, धुआ, ३९.

धूव - धूप, १०५.

प

पद्मावह - प्रतिष्ठापयति, प्रतिष्ठा करता है, ११०.

पद्मणह - प्रदीयते, दिया जाता है, ३२.

पद्मसंत - प्रविशत्, प्रवेश करता हुआ, ४४.

पह - तुम्हारा, तुम्हाको, ११२.

पहं - त्वया, तुमे, १५६.

पउम - पथ, कमल, १८.

पउमिणि - पथिनी, २०३.

पउर - प्रवर (उत्तम), या, प्रजुर (बहुत), १४.

पएस - प्रदेश, ५४.

पक्षासण - पक्षाशन, ३१.

पञ्चक्षखड - प्रलक्षण, ३३.

पञ्चकूल - प्रत्यूष, प्रातःकाल, १४०.

पट्टोलय - पट्ट+उल्लोच, कपड़ेका छत, २२०.

पड़ति - पतनित, पड़ते हैं, ५७.

पड़िअ - पतित, ६७.

पड़िकूल - प्रतिकूल, १०४.

पड़िबद्ध - प्रतिबद्ध, बांध लिया, १०९.

पड़िम - प्रतिमा, ११३.

पढ़म - प्रथम, १०.

पढ़िय - पाठेत, २२३.

पणास - प्रणाशा, ५४.

पणास्तह - प्रणाशयति, बष्ट करती है, १०३.

पत्त - पात्र, ३१.

पत्त - पत्र, पत्ता, ४५.

पत्त - प्राप्त, ८४.

पत्तामरसंघात - प्राप्त+भग्नर + संघात, देवों का समूह आया, १७०.

पत्तुस्तम - पत्रोत्तम, १७१.

पभणिअ - प्रभणित, कहा गया, ७९.

पभणिज्जह - प्रभण्यते, कहा जाय, ८४.

पमाअ - प्रमाद, ६१.

पमाण - प्रमाण, ५.

पमुह - प्रमुख, ४७.

पय - पद, १८३.

पय - पद, किरण, ११६.

- पथचल्हइ** — प्रयच्छति, देती है, १२.
- पथडक्खर** — प्रकट प्राकृत वा + अक्षर १.
- पथपोम** — पद+पद्म, २२३.
- पथबंध** — पद+बन्ध, २११.
- पथगडा** — पतंग, १२६.
- पथास** — प्रथास, ९७.
- पथासिथ** — प्रवासित, २.
- परणिष्ठिण** — पर + निष्ठृण, बड़ा निर्दयी, ४६.
- परातिय** — परस्ती, ५०.
- परत्त** — पर+आत्म, दूसरी का आत्मा, १०६.
- परदब्व** — परदब्व्य, ६३.
- परमहिल** — पर+महिला (जी) ६३.
- परमाण** — प्रमाण, ६६.
- परयार** — पर+दारा, ५१.
- पराई** — परकीया, पराई, १२९.
- परायथ** — परकीय, पराया, १५१
- परिमाह** — परिश्रह, १५.
- परिक्षत्त** — परित्यक्त, ४५.
- परिच्छिथ** — परित्यक्त, ४५.
- परिणवह** — परिणमति, परिणमता है, ११.
- परिपालता** — परिपालयत्, पालने वाला, ९.
- परिष्टण** — परिजन, १३०.
- परिहरह** — परिहरति, परिहार करता है, ७७.
- परिहरहि** ~ परिहर, परिहार कर, १२३.
- परिहरि** — परिहर, परिहर कर, २०
- परिहरिय** — परिहत, २४.
- परिहोइ** — परिभवति, होता है, १००.
- परोहण** — प्रबहण, नीका, १३४.
- पेलोहुइ** — प्रलोडयति, पलड़ता, १०६.
- पवाण** — प्रमाण, २७.
- पवित्रि** — प्रशृति, १४.
- पवेश** — प्रवेश, ४१.
- पव्वदिण** — पर्वदिन, ६९.
- पसत्थ** — प्रशस्त, ११७.
- पसर** — प्रसर, पसार, १४०.
- पसरह** — प्रसरति, पसरता है, १८९.
- पसरंत** — प्रसरत्, पसरता हुआ, १८२.
- पसिद्ध** — प्रसिद्ध, १०१.
- पसु** — पश्च, ६४.

पसुभार - पशुभार, ६७.

पसूह - भ्रातृपि, १८५.

पत्तेअ - प्रभात्तेजः, १६७.

पहाण - प्रधान, २७.

पहिल - प्रथम, पहला, १७.

पंखि - पाखिन्, ४७.

पंचगुरु - अहंत्, रिद्धि, आचार्य,
उपाचार्य और साधु, ये पंचगुरु
या पंचपरमेष्ठि कहलाते हैं, १.

पंचण्युव्वय - पंच+अणुवत, ११.
(गृहस्थों के पालने थोरय
अहिंसा, अचौर्य, सत्य,
अद्वाचर्य व परिवहप्रमण).

पंचुंबर - पंच+उम्बर, १० (वट,
पीपल, पाकर, ऊमर और
कटूमर.)

पंडिय - पाण्डिय, १५९.

पंडुर - पाण्डुर, श्रेत, १३७.

पाथ - पाद, पांव, १४५.

पाथ - पाप, २०७.

पाण - प्राण, ५०.

पाणिअ - पानीय, पानी, ८९.

पाणिथ - पानीय, पानी, १८.

पाय - पाद, पांव, ११३.

पायज्ज - प्रकट, ६.

पायपसारण - पद+प्रसारण,
पांव पसारता, १४५.

पारद्धि - पापद्धि, शिकार, ४७.

पारद्धिअ - पापद्धिक, पारधी, ४६.

पारोह - प्ररोह, २००.

पालिअ - पालित, ६६.

पात्र - पाप, १०३.

पावह - प्राप्नेति, पाता है, १८१.

पावमह - पापमति, १०६.

पावहरि - पापहरिणी, १३९.

पाविय - पश्चिन्, पापी, १६३.

पावियह - प्राप्तवै, पाया जाता है,
९२.

पास - पाश, खेलने के पांसे, ६८.

पास - पाश, बन्धन, २१३.

पासद्विय - पार्थस्थित, १७६.

पिच्छद्व - प्रेक्षेते, देखती है, १६७.

पिड - पिण्ड, ८.

पिय - पीत, पिया, २७.

पियह - पिवति, पीता है, २६.

पिशुण - पिशुन, १५१.

पिसुणस्तण - पिशुनत्व, १४४.

पिसुणमह - पिशुनमति, १५०.

पिच्छह - परिच्छिनति, पहिचानता
है, ६.

पीय - पीत, पिंगा, ४२.
 पुण्डल - पुण्डल, शरीर, २०५.
 पुच्छजाइ - पृच्छयते, पूछा जाय,
 १२८.
 पुच्छिय - पृष्ठ, १६.
 पुजा - पूजा, १५९.
 पुड़ि - पृष्ठ, पीठ, १३.
 पुट्टिमेस - पृष्ठमास, ४१.
 पुण - पुनः ५.
 पुण्ण - पुण्य, २३.
 पुण्णरासि - पुण्णराशि, २०७.
 पुत्र - पुत्र, १२०.
 पुरिस - पुरुष, १४२.
 पुर्व - पूर्व, पहले, १५४.
 पुर्व्यादिय - पूर्वाचार्य, १२.
 पुर्वरिय - पुर्वरीक, छत, १७७.
 पूजादिय - पूजादिक, २१०.
 पूरहि - पूर्यन्ति, पूर्य करते हैं,
 १५.
 पेक्खह - पश्य, देखो, ५३.
 पेक्षिष - पश्य, देखो, १३४.
 पेरिअ - प्रेरित, २१३.
 पेसिअ - प्रेषित, २०३.
 पेसिय - प्रेषित ६२.

पोहु - उदर, पेट, म. पोट, १०६.
 पोहुलि - पोटलिक, पोटली, १०९.
 पोत्थय - पुस्तक, पोथी, १५९.
 पोरिस - पीरव, १४२.
 पोसिय - पोषित, ६५.

क

करसिदिय - रप्तान्दिय, १३३.
 कलह - कलति, कलता है, ५०.
 कलिहसंकास - सफटिक+सदश,
 ३१३.
 काटह - कुटति, कटता है, १४९
 कुट्टिवि - कुटिला, कुट्टकर, १००
 कुलिय - पुष्पित, कुलाहुआ, ३५.
 कुलत्थाण - पुष्परथान, ३४.
 कोडिअ - स्कोटित, कोडा, २२०.

घ

घद्दहण - बद्धेन, बांधने से ६०.
 घबूल - वर्तुर, नवूल(बृक्ष विशेष५४)
 घलदडा - बलीवर्द बैल, ११०.
 घलिय - बलीयस् बली, १४७.
 घहिणि - भग्निनी, बहिन, ४२.
 घहुत्त - बहु, बहुत, २३.
 घहुभेय - बहुभेद, ८३.

बहुय - बहु+क, बहुत, ४८.
 बहुधेस - बहुवेष, १६२.
 बंधन - बांधन, ४४.
 बंगल - चरखल, ६८.
 बंधि - बधान, बंध, २०८.
 बंभण - ब्राह्मण, ७६.
 बंभारि - बङ्गचारित्, १५.
 बारह - द्वादश, बारह, ५९.
 बाहिरउ - बहिर्, बाहिर, ५७.
 बिणिसयइ - द्वितीय, दो सौ,
 २३६.
 बिदिय - द्वितीय, १७.
 बिहि - द्वाभ्याम्, दो से, ७४.
 बीथ - बीज, ७०.
 बीय - बीज, ४७.
 बीयअ - द्वितीय, गुज. बीयो, ११.
 शुज्जिवि - शुचा, शूषकर, ७८.
 योरि - बदरीफल, शीरयावेर, ११०
 बोहि - शूहि, कह, ८८.
 बोहिज्जह - उच्चते, शोला जाता
 है, या श्रूक्ते, डुबाया जाता
 है, ८६.
 थोहि - थोथि, झान, २१०.

भ

भक्ष - भक्षण, १२४.

भक्षण - भक्षण, ३४.
 भक्षिखअ - भक्षित, ४०.
 भग्न - भग्न, भग्न हुआ, ४६.
 रम्भाइ - रम्भाइ, गांग होता है, १४५.
 भज्जति - भज्यन्ते, भज्ज होते हैं, ३५
 भणिअ - भणित, कहा गया, १३.
 भणु - भण, कहो, ५५.
 भणेइ - भणेत्, कहे, १३६.
 भक्ति - भक्ति, १५८.
 भक्तिभर - भक्ति+भर, ११६.
 भरह - भरति, भरता है, १०३.
 भरिअ - भल, भरा, ८९.
 भहल - भद्र, भला, ६५.
 भहिम - भद्रिमन्, भलहि, १४१.
 भथर्दे - (?) छाया हति दिणगम्,
 ७७.
 भविय - भव्य, ३३.
 भञ्जुच्छाहणि - भञ्ज्योत्साहिणी,
 १३९.
 भसल - भ्रमर, १७०.
 भंति - भ्रान्ति, ६८.
 भंतिक - भ्रान्तिक, भ्रान्तिवाला,
 १३९.
 भाइय - भावित, २१३.
 भारिअ - भारित, भारी, १०९.

भासिय - भाषित, २८.

भिट्ठी - साक्षात्कार, भेंट, १४.

भिस - विस, दिस (कमलनाल)
३४.

भुक्षिय - बुझित, भूता, १०३.

भुवणसाय - भुवन+साय, १०८.

भुजाइ - सुके, भोजन करता है,
१५.

भुजाहि - भोजयित्वा, भोगदा कर,
५९.

भुंजिङ्गा॒इ - भुञ्जीत, भोजन करे,
३५

भुंजियि - भुल्ता, भोगकर, ७३.

भूरि - (लताम) बहुत, २३.

भेरि - भेरी, १७५.

भोथ - भोग, १८६.

भोगासण - भोज्य+अशन, भोजन
३७.

भोय - भोग, ८२.

भोयण - भोजन, १०.

भोयणिवंध - भोग + निवन्ध,
२०९.

भोयधर - भोगधरा, भोगभूमि,
११०.

भोयावणि - भोग + अवणि, भेण-
भूमि, १६.

म

म - मा, मत, १७५.

मद - मति, १०.

मदलिङ्गाइ - मलिनीकियते, मैला
होता है, २९.

मदलेहू - मलिनतयते, मैला होता
है, ३६.

मउडंकिय - मुकुर्याकित, १७४.

मउण - मौन, १२३.

मउयत्तण - मुदुत्त, १३२.

मउलिय - मुकुलित, १७०.

मग्गा - माँग, ८.

मग्गाइ - मार्गयति, मार्गता है, ४९.

मग्गि - मार्गय, मांग, २१०.

मच्छ - मत्स्य, मच्छ, १३४.

मज्ज - मध्य, २२.

मज्जामिसरय - मध्य + आमिथ
+ रत, २३.

मज्जिम - मध्यम, ७९.

मढिलू - माढि, मटुपन, १३०.

मण - मनस्, मन, १४.

मणिगच्छ - मनाग् + वर्चछ, कुछ
अच्छा; या, मण + गच्छ,
मत जा, १२७.

मणिमि - मन्ये, मनता है, १३८.

मणिण - मून, मान, (धातुम्ना),
११.

मणिण्य - मानित, २४.

मणुय - मनुज, ११४.

मणुयग्रह - मनुज + गति, १६३.

मणुयत्त्वा - मनुजत्व, ३.

मणोरह - मनोरथ, ११०.

मथ - मद, २०.

मध्यण - मदन, मैन (bee's wax),
६७.

मरइ - नियते, मरता है, १४६.

मरगध - मरकत, ३.

मरंत - नियमाण, मरता हुआ, ७१

महइ - महति, पूजता है, १८०.

महंत - महत्, २३.

महारथण - महारथ, २०८.

महु - मधु, २२.

महुर - मधुर, १४२.

मंजर - माजीर, बिली, ४७.

मंजिद्व - मंजिष्ठा, मैजीठा, ५६.

मंड - मण्डित, १७९.

मंडिय - मण्डित, मांडना, २०१.

मंत - मंत्र, २१५.

मंति - मंत्रिन्, मांत्रिक, २१७.

मंदकसाध - मन्द+कषाय, १६३.

मंस - मांस, २२.

माइ - माति, माता, ११०.

माइक्रिया - माइक्रस + निष्प
(शृङ्खलिशेष) १६०.

माण - मान, ६३.

माणाइय - मान+आदिक, १६२.

माणुस - मनुज्ञ, ५४.

माणुसज्जमा - मनुष्यजन्म, ९.

मारइ - मारति, मारता है, ६३.

माहउसरण - माधवशरण (वसं-
तानुगमी व विष्णुभक्त),
१७३.

मि - अपि, भी, ५९.

मिच्छत्त - मिथ्यात्व, १३६.

मिच्छादिटि - मिथ्यादृष्टि, ८२.

मिच्छाभाव - मिथ्याभाव, १४४.

मित्त - मित्र, ४४.

मिलिथ - मिलित, मिला, ११४.

मिल्हि - मुश, छोड़, १४४.

मिलि - मुश, मेल या छोड़ १३४.

मिस - मिथ, १७५.

मीलिअ - मिश्रित, ३६.

मुअ - मृत, मुआ या मर, १२४.

मुइथि - मुक्त्या, छोड़कर, ३५.

मुक्क - मुक्क, १५.

मुक्ख - मूर्ख, १०६.

मुच्चह - मुच्यते, मुक्क होता है, ४४

मुणि - मन, स्मृतिकर (धारु -
ब्रा, या मुण) १०८.

मुणिय - मुणित, ज्ञात कथित वा,
(धारु-मुण प्रतिज्ञाने) ५.

मुणिद - मुर्तीन्द्र, ७९.

मुणेह - मन्येत, मन्ये, १३६.

मुत्तिअ - मौलिक, मोती, ११.

मुललिथ - मूलित, मूलमुक्क, ३५.

मुह - मूख, मुह, ११८.

मुहु - मुहुः, बार बार ४२.

महुत्त - मुहुते, २८.

मूढा - मूढ़ता, २०.

मेलि - मुक्त्या, छोड़कर, १३०.

मेल्लिवि - मुक्त्या, मेल्कर या
छोड़कर, १३७.

मोकलिय - मुक्क, ६६.

मोक्ख - मोक्ष, ७४.

मोक्क - मुझेत, मोड़, १३०,

मोतिय - मौलिक, मोती, ११०.

मोहिय - मौहित, १११.

र

रह - रति, १२६.

रक्खाहु - रख, रखाओ, १२५.

रक्खिवज्ज्वै - रख्यते, रखाया जाय,
५८.

रज - राज्य, २००.

रडइ रडति, रटती है, १७५.

रय - रजः, रज, १८३.

रथइ - रथयति, रथता है, १५१.

रघुण - रमणीय, ९१.

रसंति - रसन्ती, बजती हुई, ११९.

रहंति - रथयन्ते, रहते हैं, १३८.

रहिअ - रहित, ५.

रंध - रन्ध, छिद, ३.

रात्य - राजित, १७१.

रामण - रावण, ५, ६३.

रिसि - शृंखि, ५३.

रुक्खाहा - बक्ष, रुख, ११०.

रुज्ज्वाह - रुच्यते, रोका जाता है,
१४०.

रुहिरामिस - रुधिर+आमिष, ३३.

रुव - रुप, १२६.

स्थानसत्ता - रूपासरक, १२६.
सेहु - सज्जने, विराजता, है, १७५.
सेहुइ - बाजते, विराजता है, ११६.
सोस - रौप, २१८.
सोहिणि - सोहिणी (उपवास विशेष) १४८.

ल

लकड़िय - लकड़ी, लकड़ी, १४८.
लकड़ख - लक्षा, लास, ६७.
लग्या - लग्या, लगा, ३८.
लग्याह - लगाते, लगाता है, ४४.
लचिछ - लक्ष्मी, १८७.
लचिछम - लक्ष्मी, १४३, १११.
लछि - लच्छि, लाभ, ४७.
लभमझ - लभ्यते, लाभ द्वौटा है, ४१.
लभ्यति - लभन्ते, पासे हैं, २०३.
लहंति - लभन्ते, पासे हैं, १६.
लहियि - लहवा, लेकर, ८०.
लहु - लहु, २०७.
लंपड - लम्पट, १२५.
लाळ - लाला, लार, १४६.
लालि - लालय, लाड कर, १३३.
लालिअ - लालित, १२३.
लाह - लाम, १६३.

लिच्छ - लिच्छि, ३१.
लिहाधिय - लेखित, लिखाया, २०३.
लिहिय - लिखित, २०१.
लिहियि - लिखिता, लिखकर, ४२.
लुमा - भम, जीण, मार. लुगा, १४९.
लेह - लाति, लेता है, १०.
लेहु - लाहि, लेओ (करो) ११९.
लोइ - लोके, लोक में, ११५.
लोणि - नवनीत, भक्षण, ३४, म. लोनी.
लोय - लोक, ३०३.
लोयण - लोचम, ११८.
लोयणि - लवनी, लुमनी वा (उस्तरा ?) १७.
लोह - (तत्सम), लेहा, ६७.
लोह - लोभ, १३४.
लोहकज्ञि - लोह+कार्य, लोहे के लिय, २२१.
लहसुण - लशुन, लहसुन, ३४.

व

वहसाणर - वैश्वानर, असि, २३.

- वर्णव - व्याघ्र, ८.
 वर्णन्ति - वर्णन्ति, जाते हैं, १४३.
 वर्जिय - वर्जिय, १५.
 वड - वट (शृङ), ९०.
 वड - मूली, १२५.
 वण्यर - वनचर, ८.
 वण्सइ - वनथी, १७९.
 वणिज्ज - वाणिज्य, ४९.
 वण्णइ - वर्णयति, वर्णन करता है,
 ७२.
 वर्त्य - वत्र, २०३.
 वर्य - वच्चस्, वच्चन, १४.
 वर्य - व्रत, ३८.
 वर्यण - वच्चन, ५.
 वर्यणकुस्त - वच्चन+अंकुश, ३३०.
 वर्यणिट्टु - व्रत+निष्ठा, ५६.
 वर्यणियर - व्रत+निकर, १३९.
 वर्यदंसण - व्रत+र्शन, ८३.
 वर्यपस्ता - व्रत+पाता, पासे, ५८
 वर्यमायण - व्रत+माजन, ११६.
 वर्यहक्ख - व्रत+हक्ख, हक्ख ५७.
 वरपञ्च - वर+पद या पथ (दूध)
 ३२२.
 वराडिअ - वराडिका, कौड़ी, ३०३
- वरिट्टु - रुठ, वरसा, ६८.
 वर्लंग - वर्लंग, चलने हुए १२१.
 वलिय - वलित, आड़े दिया हुआ,
 ६५.
 वल्ह - वल्ह, १७८.
 वाविय - उस, योगे, ५४.
 वस - वस, १४२.
 वसण - व्यसन, १०.
 वसणणिवह - व्यसन + निवह,
 १४४.
 वसणासत्त - व्यसनासत्त, ५२.
 वसाइ - वासयति, वसाता है, १९४
 वसि - वसे, वस में १२५.
 वसिय - उपित, वासा, ३५.
 वसुराज - वसुराज, पु. ६१.
 वहंति - वहन्ति, वही है, १०२.
 वंछिअ - वाञ्छित, १८०.
 वंछिज्जइ - वाञ्छिथने, चाहा जाता
 है, ३१३.
 वंदिअ - वन्दित, २१८.
 वंस - वंश, १५५.
 वाअ - वात, १४७.
 वाइय - वापित, योवाया, १६०.
 वार - द्वार, १३५.

वारिय - वारित, ४३.
 वारियहि - वारयसि, निवारेगा,
 १५५.
 वाविय - वापित, वौवाचा, ७०.
 वासर - (लत्यम), दिन, २.
 वाहि - व्याधि, ४१.
 वाहुङ्कइ - व्यापृष्ठोलि, वापरता है,
 १६३.
 वि - अपि, भी, १०.
 विउल - विग्रुल, १३७.
 विकइ - विक्षीणति, वेचता है,
 २०९.
 विग्रासिय - विकासित, २१२.
 विघ्न - विज्ञ, १००.
 विचित्र - विचित्र, १७२.
 विच्छाथा - विछाय, निष्प्रभ, १२५
 विज्ञावच्च - वैयत्वय, (मुनिसेवा),
 १३९.
 विद्वण्ह - विवर्धते, वढता है,
 १०७.
 विणथ - विग्रय, ७८.
 विणदु - विनष्ट, ६३.
 विणयविवज्जिय - विनय+विव-
 जित १३८.
 विणास - विनाश, १३.

विणासित - विनिश्चित, २०४.
 विखिवारिय - विविक्षित, ४३.
 विणु - विना, ६.
 वित्यर - विस्तार, ९०.
 वित्यरइ - विस्तृणीति, विस्तरता
 है, २००.
 विदिसा विदिशा, ६६.
 विष्टंति - वि + पतन्ति, पढ़ते
 है, ४.
 विवलय ... वि + प्रलय, १०८.
 विमोअ - विमेग, ७२.
 विमुक्त ~ विमुक्त, २५.
 वियाणिय - वि + झानित, विद-
 रीत ज्ञान वाले, १०५.
 वियाणु - विजानीहि, जातो, १५.
 वियार - विचारय, विचार कर, १५२
 वियारिय - विदारित, २२१.
 विरहिय - विरहित, १३९.
 विलगाउ - वि + लगतु, लगे,
 १०७.
 विलुलंस - विलुलू, लहलदाता
 हुआ, १७१.
 विवज्जिय - विवर्जित, २१.
 विस - विष, २.
 विसकणिय - विष+स्फृणिका, २०७

विसकंदलि - विष+कन्दली, ५०.
 विसघारिय - विष+मुर्छित, २१३
 (देखो घारड).
 विसमेस - विष + मेप, १६२.
 विसथ - विषय, २२०,
 विसहृष्ट - विषहृते, सहता है, १२४.
 विसहर - विषघर, सर्प, ५४.
 विसाल - विशाल, १९८.
 विसुद्ध - विशुद्ध, ५२.
 विह - विष, ९.
 विहृत्वाच वि+व्यट्यति, विगाढ़ना
 है, १५१.
 विहृडिथि - विषव्य, विषट्कर,
 १००.
 विहाण - विधान, ७०.
 विहि - विषि, २०९.
 विहिय - विहित, १५९.
 विहिविरहिय - विषि+विरहित,
 ७०.
 विहृत - विभूति, १५९.
 विहृण - विहीन, ११५.
 विसुत्तर - विशदू+उत्तर, वीस
 उत्तर, २२२.
 वुशाइ - उच्चारे, कहा जाता है,
 १४१.

वुशुइ - व्रुत्ति, हृत्याई है, १६१.
 वुत्त - उत्त, ४.
 वेन्तल - द्रिश्य, दात, ३६.
 वेयण - वेदना, ४३.
 वेहिं - वही, वेली, ४५.
 वेसा - वेद्या, ४३.
 वेसाशर - वेद्या+मृद, ४४.

स

सई - स्वयम्, १७.
 सउच्च - शौच, ५.
 सकिलेस - स + क्लेश, १६५.
 सक्क - शक, इन्द्र, १६८.
 सक्कइ - शक्तेति, सक्तता है, ३०१
 सग्न - स्वर्ग, ७३.
 सग्नागमण - स्वर्ग + आगमन,
 १६७.
 सचिक्खल - स+क्लैम, कीचड़-
 सुक, १४८, स. चिखल.
 सच्चामर - सत् + चामर, या,
 सत्य + अमर, १७६.
 सज्जाआ - स्वाध्याय, १४०.
 सण - (तत्सम), सन (hemip),
 ६७.
 सण्णास - रान्यास, ७१.
 सण्णाह - सशाह, कवच, ६८.
 सत्तापखर - सप्ताखर, २१५.

सत्तेद्वाम - सप्त+अट्टम, ७८.
 सत्तम - सप्तम, १३,
 सत्ति - शक्ति, ९.
 सत्तु - शब्द, १४२.
 सत्त्व - जल, १५३.
 सत्यसत्त्व - शास्त्र+यत, १०५.
 सदाचित - सदी, ६५.
 सद - शब्द, १७५.
 सद्वाण - अद्वान, १९.
 सध्य - सर्वे, ६५.
 समड - सम्म, साथ में, ३०.
 समत्ता - समात्त, ४५.
 समस्तरण - समवशरण, १७०.
 समाइय - समायिक, ६८.
 समायरहि - समावर, अचरण
 कर, १०३.
 समाहि - समाधि, ११३.
 समिला - सम्या,, सैला,(Yolk
 pin) द (शम्बा युग्मकीलक,
 अमर.)
 समीक्ष्यहु - (?) समीरथ, सम्हारो
 ५८.
 समीहिय - समीहिन, २०१.
 समुद्र - सनुद्र, स्व+नुद्रा, १४३.
 समत्त - सम्यत्त, १०.

सम्भाइड्डि - सम्यमहिं, ७९.
 समुच्छाइ - समुच्छीनते, सम्-
 उंग जीवों से युक्त होता है,
 ३४.
 स्वयल - सक्तल, ५३.
 सर - सरः, सरोवर, १३१.
 सरथ - शरवू, ११४.
 सरचर - सरोवर, १८.
 सरस - (लतम), सरसुक,
 १२४.
 सरसह - सरस्वती, १४३.
 सरसलिल - सरः+सलिल, ६५.
 सरिस - सहश, २८.
 सरिसभ - सहश, १२०.
 सरुव - स्वरूप, ९१.
 सरेह - स+रेह, २१२.
 सलक्षण - सलक्षण, ११७.
 सव्व - सर्वे, २५.
 ससर - प+खर, ३१३.
 ससहर - शशधर, चन्द्र, १७६.
 सखि - शक्ति, चन्द्र, ३९.
 सहइ - सहते, सहता है, १०३.
 सहल - सफल, ५.
 सहस्रणयण - सहस्रनामग, इन्द्र,
 ७२.

- सहाय - सहाय, १२०.
- सहु - सह, सथ, ३०८.
- संकाह्य - संका + आदिक, ११.
- संखेच - संकेच, १.
- संघ - सुनि, आर्थिका, थावक,
आविका, यह जैतियों का
चतुर्धिंश संघ कहलाता है, ११६
- संश - संग, २२३.
- संश्लेष - संघर्षयति, संगठन करता
है, १५१.
- संज्ञम - संखम, ३.
- संझा - सन्ध्या, १३.
- संताव - संताप, १५४.
- संतोस - सन्तोष, १३७.
- संदोह्य - संदोहक, २२२.
- संप्रद - सम्प्रति, आजकल, ७३.
- संप्रय - सम्प्रद, ८९.
- संपुण्णाहल - सम्पूर्णफल, १५८.
- संयोहिय - संयोधित, १११.
- संभाविय - संभावित, १६७.
- संवरहि - संवरय, सम्हार, १२४.
- संसग - संसर्ग, ५२.
- साह्यजल - सहायजल, ११.
- सालंड - सालार्ड, श्रीही, ६१.
- सामग्नि - सामग्री, २१.
- सात्य - स्ताद, ३५.
- सायर - सागर, ३.
- सायअ - शावक, १०.
- सावज्ज - सावज्य, सदोष, २०४.
- सावयगुण - आविक+गुण, ३१.
- सावयधम्म - थावक+पर्म, १.
- सरख - शस्य, ८३.
- सरसाण - शासन, १७८.
- सासयपथ - शाश्वत+पद, २१०.
- सिक्खावय - शिक्षावत, ११.
(सामाधिक, प्रोप्रोपत्राय,
भोगोपभोगोपरिमाण और अ-
तिथिसंविभाग, ये चार शिक्षा-
वत हैं।)
- सिज्जाइ - रिध्यति, सथता है, २१.
- सिटु - शिट, ३०.
- सिटु - शिट, कहा गया, ७९.
- सिपि - शुक्ति, सीप, ५५.
- सियसंजोअ - श्री + संयोग,
१५१.
- सिर - शिरस्, सिर, ७६.
- सिलिमुह - शिलीमुह, ब्रह्मर,
१२५.
- सिवगाइ - शिवगति, २२२.

सिथपट्टण – शिवपत्तन (भोज),
५.

सिविण – स्वप्न, १६०.

सिविणयपंति – स्वप्न + पंडित,
१६७.

सिंचाइ – सिर्वति, सीचना है, ५५.
सिंचंत – सिच्यमान, सीचा गया,
१८.

सिंचिय – सिक्त, १८०.

सीय – सीता, श्री, ६३.

सील – शील, ५.

सीह – सिंह, २१५.

सुअजिजय – सु + आर्थिका,
३०३.

सुक – शुष्क, सूखा, १०.

सुक्कसर – शुक + सर, १३९.

सुवस्त्र – सुख, २०६.

सुक्खडा – सुख, १५२.

सुच्चाइ – शुच्यते, शुद्ध होता है,
२६.

सुज्जाइ – शुध्यते, ११९.

सुणह – श्वर, कुता, ४७, ८२.

सुणहु – श्वर, सूनी, ४२.

सुणंति – शृण्वन्ति, सुनते हैं,
११८.

सुणि – श्वर, सूनी, ३१.

सुत्त – शृत्र, ४३.

सुदेश – सुपेत्र, १३५.

सुद – शृद, ७६.

सुपत्त – सुशात्र, ४९.

सुपरोहण – सु + प्रवद्यन्, नीका
४५.

सुप्रणस – सुप्रनस्, पुर्ण या
शुद्धमग, १७३.

सुयण – सुजन, ३.

सुयणेचति – शनपूर्वमी (उपजास)

१८५.

सुयंध – सुगंध, १५०.

सुरयण – सुरत्न, २३०

सुरराज – सुरराज, १६४.

सुरलोअ – सुरलोक, ७३.

सुरहि – सुरभि, सुरेधित, १८६.

सुरिद – सुरेन्द्र, १६९.

सुवण – सुमनस्, सुमन, पुष्प,
१४१.

सुवण्ण – सुवण्णी, १३६.

सुवुत्त – सु + उत्त, ७८.

सुह – सुख, ४.

सुहावण – सुखावण, सुहावना,
१७२.

सुहिय - सुखिन्, सुखी, २.
 स्त्री - श्री, कुती, १३०.
 सूर - सूर्य, ३७.
 सूरज - कन्दकिरेष, सूरज, ३४.
 सूरि - (लक्ष्म), ७.
 सूर्यगमण - सूर्यहम, १४०.
 सेहर - शेखर, २२३.
 सो - गः, वह, २८.
 सोअ - शोक, १३१.
 सोइ - सोइपि, ७.
 सोखल - सौख्य, ७४,
 सोखइ - शोखयति, सोखता है, ६९
 सोहम - सौभाग्य, १०५.

ह

हडे - अहम्, है (मै), ३१०.
 हकार - आहान, हल्कारया हाँक,
 ८८.
 हकारइ - हो, हैति शहेन आहुयनि,
 हाँका लगाता है, १७५.
 हणइ - हनिल, हवता है, ४६.
 हणोइ - हन्यात्, हनेगी, ४८.
 हत्य - हस्त, हाथ, ११७.
 हतियय - हस्तिन्, हाथी, १२३.
 हयतम - हत + तमस्, १७२.
 हरिणउल - हरिण + कुल, २१५.
 हरिय - हरित, हरा, १५.
 हरिसिय - हष्ट, १७६.

हरेइ - हरेत्, हरेगा, ६२.
 हलुब - लुड्क, १२४, १३५.
 (हम, २, १२३.)
 हवइ - भवति, होता है, ८७.
 हवसि - भवति, होता है, १५५.
 हवंति - भवन्ति, होते हैं, १७७.
 हंसउल - हंसकुल, १३९.
 हारिय - हारित, हरथा, ८४.
 हिय - हत, १७.
 हियहंलिय - हदव+झ, १०१.
 हियकण्णडा - हत+कण्ण, १२७.
 हियकमलिणि - हदय + कमले,
 २१३.

हियडा - हदय, ५८.
 हियमहुर - हदय+मधुर, १७८.
 हिययंचल - हदय+चल, २०८
 हियवथ - हदय, ५३.
 हुजाड - भवतु, होवे, २२४.
 हुयास - हुताश, अश्रि, ३८.
 हुयासण - हुताशन, ९८.
 हुव - भवता, हुई, १७९.
 हुचअ - भत, हुआ, १५२.
 हुति - भवन्ति, होते हैं, १८.
 होइ - भवति, होता है, ६.
 होइ - भवतु, होवे, २.
 होसि - भवसि, होता है, १५६.
 होहि - भव, हो, १२९.

ट्रिपनी

५. बृहत्प्रिवण्डुरत्नाकर में उत्तम सुधर्णी को परीक्षा इस प्रकार बतलाई गई है—

दाहे रक्तं सितं छेदे निकाये कुंकुमप्रभम् ।
तारं शुल्वोज्जितं किंगधं कोमलं गुरुं हेम सत् ॥
तच्छेतं कठिनं लक्ष्मं चिवर्णं समलं दलम् ।
दाहे छेदे सितं श्वेतं कषे त्याज्यं लघु स्फुटम् ॥

पृ. ३९३.

६. चोरहं पिडि विषडंति—हिन्दी का महावरा भी यही है—
चोरों के पिंड में पड़ना या पाले पड़ना। भ. प्रति की टीका में 'पिडि' का अर्थ 'पथि' अर्थात् 'मार्ग में' किया गया है।

७. आवक अर्थात् जैन एहस्य के संशम की शुद्धि के अनुसार ग्राहक दर्जे हैं जिन्हें आवकों की गदारह प्रतिमा कहते हैं। दोहा नं. १० से १७ तक इन्हीं प्रतिमाओं के लक्षण बतलाये गये हैं।

८०. 'पंच उदुम्बर' कोप में देखिये। व्यसन खात माने गये हैं, जो इस प्रकार है—

छूतं मांसं सुरा वेद्याखेटं चौर्यं पराङ्मना ।
महापापानि सप्तानि व्यसनानि त्यजेद् शुद्धः ॥

इनके त्याय का उपदेश दोहा नं. १८ से ५१ तक पाया जायगा।

सम्पत्ति - सम्यक्तद् - का शब्द ये शुद्धता या अथार्थता है। जिन शर्म में इस शब्द का प्रयोग सम्यगदर्शन अर्थात् सच्ची दृष्टि के अर्थ में किया जाता है। सम्यगदर्शन की परिभाषा यह है—

अद्वानं परमार्थोनामासागमतपोभूताम् ।

किमूद्वापेदमष्टांगं सम्यगदर्शनमस्यम् ॥

(रत्नकरणवाक्यकाचार, ४)

‘ परमार्थ अर्थात् जैन तिद्वान्त के सात सत्त्वों तथा देव, शास्त्र और मुनियों में तीन मूढ़ता और छठ मद से रहित, अद्वान को सम्यगदर्शन कहते हैं। इस सम्यगदर्शन के आठ अंग हैं। ’ यही लक्षण दोहा नं. १९-२० में कह गये हैं। दोहा नं. ५३ भी लिखिये। सम्यगदर्शन के आठ अंगों के लिये दोहिये ‘ रत्नकरणवाक्यकाचार ’ ११-१८,

११. पञ्चाणुव्यय- पञ्च अणुवत्— कोष देखिये। पांच अणुवत्, तीन गुणवत् और चार शिक्षावत्, इन चारह व्रतों का उपदेश दोहा नं. ५९ से ७२ तक पाया जायगा।

१२. सामाधिक- के अनाहतादि बसीस दोषों के लिये देखिये ‘ मुलाचार ’ गाथा ६०३-६०७.

१३. ‘ कस्तरिलोयणिहियचित्तुर् ’ — कर्त्तव्यी स्वन्या या हृष्टः चिकुरः येन सः । भ, प्रति की टीका में ‘ लोयणि ’ का अनुवाद ‘ लौचनि ’ से किया गया है जिसका अर्थ या तो लौचने का शब्द उस्तरादि ही सकता है या हस्तलौच ।

१४. जैनियों के सात सत्त्वों के निरूपण के लिये देखिये बैरिस्टर अम्पतरायकृत ‘ Practical Path. ’

३०. सम्बलव के शकादिक आठ दोष ये हैं—शको, कांक्षी, चुगुणी (कृष्ण)

मूलदृष्टि (मिथ्यामत में अद्वान), तथा उपशुद्धि, स्थितिकरण, यात्रात्मा और प्रभावना का अभाव.

कुले जैति, राजवी, रुपै, बैलै, तर्पै, सर्म्पाति और विर्या इनके अभिमान को मद कहते हैं।

कृपैह, कृदैवै और कुशाश्चि की अद्वा का नाम मूडता है। इन तीनों तथा इन तीनों के उपतत्कों को जो मामता है वह अनायतन कहलाता है।

२३. उपसुक दोहे में कुहे हुये मध्य, मांस और मधु में से प्रथम दो का वर्गन न कर इस दोहे में एकदम तीसरे का प्रसंग छेड़ा गया है। इसी कमी को पूरा करने के लिये भ प्रति में दो दोहे जोड़े गये हैं (देखो परिशिष्ट) कवि ने संभवतः उन्हे यहां इसलिये छोड़ दिया है कि उनका वर्णन आगे सप्त व्यसनों में आने वाला है (देखो दोहा ४१—४२) ।

२४. इस दोहे का पठन चरण २५, विं वे १३ पद्मा है ‘अणुवय अद्वैत मणिण्यद्वं’। इसका अर्थ होता है ‘बास्त्रों’ अणुवयों के मानने से (मधु का परिहार होता है)। किन्तु मह पाठ उपसुक नहीं जान पड़ता क्योंकि एक सो अणुवय भाट नहीं हैं पांच हैं जो यूत, मांस और मधु के ल्याग सहित अणुवय नहीं मूलभूत कहलाते हैं। और दुसरे इस अर्थ से दूसरी पंक्ति की कुछ सार्थकता नहीं पैदली।

२५ ‘सदव्यद्वं’ पाठ केवल प. प्रति में है शेष सब प्रतियों में ‘सगद्वं’ पाठ है। भ. में भी ‘सगद्वं’ है और उसके अर्थ में कहा गया है ‘सहित्ता-णादिकुसुमानि अपि ल्यागं करोति’। यदि इसका अर्थ हम शक (साग) करे हो अच्छा होगा। तदनुसार प्रथम चरणका अनुवाद होगा ‘शक और कूलीं को छोड़ देने से’ इत्यादि ।

२६. प्रथम पंक्ति का अर्थ भ प्रतिकी टीका में इस प्रकार किया गया है— ‘येत (यः) अगालितजलं हे जीव, अथं जात्वा यदि न प्रकावं निन्द्रा-

करोति स चृती न'। किन्तु सूल के शब्दों पर से यह भाव निकालना कठिन है।

२८. कुछ पदार्थों में उनकी आन्तरिक गर्भ से जो कीटाणु डत्पत्र हो जाते हैं उन्हें जैन रिद्धान्त में सम्मूर्छन जीव कहते हैं।

३०. म. प्रति मे, ताहं समउ जौ कारणाँ' के स्थान पर 'ता सम सुजाइ जो विणरो' पाठ है, और यह दोहा नं. २९ से पहिले रखा गया है।

३०. 'तउमंडयहं' पाठ किसी भी प्रति में नहीं है, किन्तु अन्युक्त अर्थ भोजने की हार्ति से 'भ' के स्थान पर 'म' पाठ रखा दिया गया है। तो भी अर्थ बहुत संतोषजनक नहीं निकला।

म. प्रति मे 'तहं भंडयहं' पाठ है और दोहे का अर्थ इस-प्रकार किया गया है—'इच्छापि कृते ते धर्म भांडयति लाजयति। यवि चेत् पक्षमशतादिकमपि आस्यादयति तस्य भवन्ति (भवति) न दर्शनवत्प्रतिभा' इससे सूल के शब्दार्थ रामकर्णे में मुझे कोई सहायता नहीं मिली।

श्रीनुक्त ए. एन. उपाध्ये, शार्वभागधी-प्रोफेसर, राजाराम कालेज, कोल्हापूर ने दोहे का अर्थ सूचित किया है—'किसी को उनके पके भोजन से लिये 'भांडों (पात्रों) में भोजन करने के लिये नहीं बेठना चाहिये। ये भांड आवकों के थोक्य नहीं हैं उन पात्रों में का भोजन भी (अशुद्ध है)।' इस अर्थ में 'अन्द्रज' से भोजन करने बैठाया, तथा 'भंड' और 'पत' से भांड और पात्र का अर्थ लिया गया है। मेरे ध्यान से 'तहं भंडयहं' पाठ को लेकर होहे का नित्र अर्थ अद्यता होगा "उनके पके भोजन से लिस भांड (में भोजन बनाना) तो रहने ही दो उनके पात्रोंमें भोजन करना भी आवकों के थोक्य नहीं है" इस अर्थ के लिये 'भोयण' (एक वचन) के स्थान पर भोयण (यहुवचन) पाठ रखना आवश्यक है वर्णोंके उससे सम्बद्ध

कियापद 'हुति' और विशेषण 'जुगाई' बहुवचन में है। अ. द.
और भ. प्रतियों में 'भोजण' ही पाठ है।

४४. 'मूलउ पाली' पठना टीक होगा। भ. प्रति की टीका में
इसका अर्थ 'मूल हरिद्रादि कमलनालिका' ऐसा किया गया है। इस
पंक्ति का दोलतरामजीकृत कियाकोप की इस पंक्तिरे मिलान कीजिये—

'तजि केदार तूबड़ी सदा खाहु म नाली दिस तुम कवा'।

५. प्रति में विस की जगह दिस पाठ है। कमलनाल की शाक को
कई जगह दिस या वेस अवभी कहते हैं। भ. प्रति में भिस पर टिप्पण
है 'कमलनड़' तथा 'त्याणयहि' की जगह 'छाणयहि' पाठ है और
दूसरी पंक्ति की टीका है 'सूरण-कंद-फूल-अल्लाणकं पतेषां खादिते
सति सम्यक्तवं मलिनं भवेत्'। 'अल्लाण' से संभवतः अशाना
(अचार Pickles) का तात्पर्य हो।

५५. भ. प्रति में 'मुललिड' के लान पर 'सुलिड' पाठ है और
इसपर टीका है 'अस्य यत् सुलितं फूलसंयुक्तं' इत्यादि। शूलित
से संभवतः अंकुरित का तात्पर्य है। 'मुललिड' से म्लान या मुकुलित
(बीड़ी) का तात्पर्य भी कहायित हो सकता है।

५६. 'पुद्दिमंस' से यहाँ कवि का क्या अभिप्राय है यह सष्टुत समक्ष
में नहीं आता। क्यों पीठ का मांस बहुत स्वाक्षिष्ट होता है इससे मांस भोजियों
को उसका ढोड़वा कठिन है। पृष्ठमांस का एक अर्थ संस्कृत में पैशुन्य अर्थात्
सुगलखोरी भी होता है, यथा—

प्राक् पादयोः पतति खादति पुष्टुमांसे ।

कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्धिचित्रम् ।

छिद्रं निरुप्य सहस्रा श्रविशत्यशाङ्कं ।

सर्वे खलस्य चरितं मशकः करोति ॥

भ. प्रति में 'पुट्टिमंडु' के स्थानपर 'पिट्टिमंडु' पाठ है और टीकाकार ने उसका अर्थ 'धान्य की पीठी जिसमें मांस की कल्पना की गई हो' ऐसा किया है (धात्वचूर्णपीठ्यामपि मांस इति विकल्पे जाते सति सा पेटी स्थज्यते) । देवसंन कृत भावसप्रह में कहा गया है कि गुड़ और धातकी (?) के योग से बने पिठर में मदिरा की शक्ति आजाती है । 'जह गुडधावइजोए पिठरे जाएह मजिरासत्ती' (१७३) । इन तीन अशों में से लागू तो कोई भी किया जा सकता है पर पूर्ण संतोषप्रद मुझे उनमें से एक भी नहीं झात होता । दूसरी पंक्ति में जो कवि ने अपथ्य और व्याधि की उपमा दी है उससे ज्ञान होता है कि उनकी समझ में 'पुट्टिमंड' मांसमध्यन का मूल है ।

४३. इस दोहे के प्रथम चरण का अर्थ कुछ अस्पष्ट है । 'सुन्तड' पाठ मेरा कलिपत है । पोथियों में 'सुन्तह' या 'सुन्तड' है । भ. प्रति का पाठ इस प्रकार है—'मज्जहु विलित्तिहि विमुत्तर्ष दुणहु हु मज्जहु दोमु' और इसका अर्थ यह दिया गया है—'मदिरालिप्तमुखं यस्य तस्य मुखे श्वानो (श्वा) मूत्रं करोति ' । यदि यह अर्थ अभीष्ट हो तो हम प्रथम चरण को इस प्रकार पढ़ सकते हैं—'सुदु विलिहिवि सुन्तड दुणहु' (मुखे विलिय मूत्रवति श्वा) ।

५४. इस दोहे का पाठ निश्चित करने तथा अर्थ बैद्यने में बहुत कठिनाई का अनुभव हुआ है । फिर भी 'समीदवङ्गु' पाठ सन्दिग्ध है । शब्दों के अर्थ कोष में देखिये । भ. प्रति की टीका में दोहे का अर्थ इस प्रकार किया गया है 'शुद्धदर्शनं कदा भवेत् यदा गता दुरीकृता अरयो मिथ्यात्वशात्रवः । एतादृशं चत्वयत्वं हृदये सुनिश्चलं यस्य अतोपवासादितां 'समटः' प्रातोभवः (?) वहनि, हे जीव, चपलानि जीवितव्यं धनानि आशुपमपि ' । श्रीयुक्त ए. एन. उपाध्ये इस दोहे का अर्थ ऐसा करते हैं—'शुद्ध या मिथ्या दर्शन, जो (अवलक) हृदयमें निश्चल था, को छोड़ो । त्रत के पास सज्जाले । हे जीव, धन और आशु अंबल हैं । '

वे ' गद्वायर ' का ' क्षुद्र ' अर्थ ममप्राचार्य कृत काव्यप्रकाश, ५, ८३, में प्रयुक्त ' गदु ' के आधार पर करते हैं। (तदेत्काव्यान्तर्गदुभूमिति नास्य भेदलक्षणम्) ।

६२. वसुराजा की कथा इस प्रकार है। वसु स्वस्तिकावती का राजा था। वह एक ब्राह्मण पुत्र नारद और गुरुभुवि पर्वत के साथ क्षीरकदम्ब उषा-ध्याय के पास विश्वा पड़ा था। गुरु की गृत्यु के पश्चात् एकदार नारद और पर्वत में ' अजीर्येष्टव्यम् ' इस श्रुति के अर्थ पर विवाद खड़ा होगया। पर्वत अज का अर्थ बकरा कहता था और नारद कहता था कि गुरुजी ने अज का अर्थ उन्हें ' तीन वर्ष के पुराने भान जो उग न सके ' यह बताया था। अन्त में उन्होंने इसके लिंग्य के लिये वसु को मध्यस्थ बुना। पर्वत की माला ने वसु से अपने पुत्र के पक्ष करनेका बचन ले लिया। और तदनुसार वसु ने असत्य जानते हुए भान पर्वत के बायं को पुष्टि की। इस घोर असत्य के प्रभाव से वसु राजा अपने रिहासेन सहित पूर्णी में अंस गया और किर मर कर नरक को गया। (देखो नेमिदल कृत अराधना कथाकोष) ।

' शास्त्रारण्ड ' वैदिक काल में उसे कहते थे जो अपनी शास्त्रा को छोड़ कर दुसरी शास्त्रा को स्वीकार करे। ढाल का अर्थ भी शास्त्र है पर इस शब्द का उपयोग शूक्र की शास्त्रा के अर्थ में ही बहुधा देखा जाता है। संभव है ' साखंड ' या ' भारखंड ' किसी ऐसे पश्चीक वौछानी को कहते हों जिसके ढाल पर बैठने से उस ढाल को हानि पहुंचे।

६३. हृचिय-रस्ता, हृचा करके; देखो शोहा २०९.

६४. भ. प्रति में ' पालिउ ' के स्थान पर ' पाडिउ ' पाठ है और उस पंक्ति की टीका इस प्रकार है—' येन मुकुलिते सति आसा तुष्णा चर्द्दते एव, तेन संयमे उत्पाटितम् । टीकाकार ' मोकलियइ ' के अर्थ को न समझने के कारण भ्रम में पड़ गये हैं।

६५. ' भवार्ह ' का अर्थ ठीक समझ में नहीं आया। प. प्रति में इस शब्द पर ' छाँह ' ऐसा टिप्पण है उसीके आधार पर मैंने अनुवाद किया है।

भ. प्रति में दोहे की बूसरी पंक्ति का पाठ इस प्रकार है पिंककम्बर्द एवं-
द्वयणे किम अण्णाह भवेषु ' और इसकी दीक्षा है ' यथा निकर्षये
सति एरंडवनानि धान्यानि न भवेत् । (भवेषु :) ' प्रथम पंक्ति की
दीक्षाकार का अर्थ यह हैता है ' मद, मांग और मधु के परियाग से
आबकवत होते हैं । एरंड के बत को बिना कृपि द्वारा साफ किये अब नहीं
उत्पन्न हो सकता ' ।

श्रीचुक्त उपाध्ये का अनुमान है कि ' भवाहै ' ' भू + आदि ' का
अपन्नेश रूप है और तदनुसार वे दोहे का अर्थ इसप्रकार देखते हैं - ' जो मद,
मांग और मधु का परियाग करता है वही (शुष्टु) आबक होता है । एरंडवन
में से जब वृक्ष निकाल दिये जाते हैं तभी (शुद्ध) भूमि आदि रहते हैं ' इन
दोनों अर्थों में ' संपद ' सम्पदने के समरूप लिया गया है और ऐसे अनुवाद
में ' संपद ' ' सम्प्रति ' के बराबर लिया गया है ।

८२ इय दोहे की देवसेनकृत भावसंग्रह की निष्क्रियित गाथा से
तुलना कीजिये—

केहि पुण गवत्सुरद्या गेहे राथाण उण्णाहै पसा ।
दीसंति मञ्चलोप कुल्लियपत्तस्तस्त दाणेण ॥ ५४३ ॥

८३. ' उण्णाहि ' का अर्थ अनुवाद में ' आत्मना ' हिंदी-उपतंकर
किया गया है । भ. प्रति की दीक्षा में उसका अर्थ ' उत्क्षम्यते ' दिया है ।

८४. ' दोसदह योहिङ्गह ' का अर्थ जनुदाद में ' दोषेन कथ्यते ' रूपा लिया गया है । ' बोल ' जातु अपन्नेश में तुलाने के अर्थ में अनेक जगह
आई है (देखो देहा ८८, ११५) । किन्तु देवसेनकृत ' भावसंग्रह ' में बोल
(बोल) जातु कई बार ' त्रुट ', हिंदी-त्रुटना या झूठना के अर्थ में प्रयुक्त
हुई है (देखो गाथा ५४७, ५४८, आदि) । तदनुसार प्रस्तुत होहे की प्रथम
दंकि का अर्थ यह भी ही सकता है— ' कुपात्र का दान (दाता के) दोष में

झाला है, इसमें अनित नहीं। यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है और इससे पाषाण की नाव की उपमा बहुत उपयुक्त हो जाती है।

९९. 'बढ़न्ति' का अर्थ अनुवाद में 'विद्यायन्ते' अर्थात् 'विद्युत' होते हैं, 'ऐसा लिया गया है। भ. प्रति में ज. प्रति के समान 'बढ़न्ति' पाठ है, और शीका है 'यथा अलं निकासिते (जले निष्कासिते) कृपके नूतनसीरं (शीरं) आगच्छति'। अर्थात् 'जैसे वृप से जल निकालने पर उसमें नदीन जल आजाता है'।

१००. अविष्ण-अविम का अर्थ मैने पालिका या पार किया है। अवि का अर्थ संस्कृत में दीशाल या पर्वत और 'अवित' का अर्थ पुरोहित (अवति रक्षति यज्ञमिति, अवु + इन्चु, है) होता। इसी के अनुसार अवनि पूर्खी का नाम है। भ. प्रति की शीका में भी यही अर्थ किया गया है—'तदागननीरवीथनपालिक्या चिना स्फुटति भीरं न तिष्ठति'।

१०१. योगनिद्रदेवकृत 'परमात्मप्रकाश' में एक यह दोहा है—

लाहूं कितिहि कारणिण ते सिवसंगु चयंति ।

खीला लग्निवि ते जि मुणि देउलु देव ढहंति ॥

अर्थात् कीर्तिलभ के कारण जो शिव (मोक्ष) का संग छोड़ते हैं वे सुनि खीलों के लिये देवालय और देव को छोड़ते हैं। इसी के अनुसार यदि हम प्रस्तुत दोहे का यह अर्थ करें तो अच्छा होगा 'पेट के लिये जो पापमति दूसरों को दुख पहुंचाता है वह मूर्ख क्या खीलों के लिये देवालय नहीं पलोड़ता (तोहता)'? इसी प्रकार भे भाव के लिये देखिये दोहा २१३-२२१-

१०९-११०. इन दोहों का भावार्थ यह प्रतीत होता है। कोई अधर्मी यदि प्रश्न करे कि जिस प्रकार पोटलीमात्र विकेय द्रव्य से बड़ा वाणिज्य नहीं हो सकता उसी प्रकार छोटे से उपधार से कोई बड़ा धर्म नहीं हो सकता, तो इसका उत्तर यह है कि वाणिज्य का विकास द्रव्य के परिणाम पर नहीं किन्तु

उसके मूल्य पर निर्भर है। माणिक और मौतियों से भरी पोटली के धन का पराशार नहीं और बैलभरे थिरों का कुछ भी मूल्य नहीं। इसी प्रकार उत्तम उपवासमात्र से ही बड़ा उपय हो सकता है। इसका उदाहरण आगे के दोहे में दिया गया है। श्रीकाकार का अर्थ कुछ सार्थक नहीं जन्मता ' पोट ग्रंथि स्थमस्तकोपरि लघ्वे सति मणिमुक्तवामणि, तथापि धनं किं तस्य भवेत् अपि तु न भवेत् । किमिव यथा वोरीणो भारं बहति चलीवर्दः तथापि वोरीणो मध्ये तज्जास्ति यत्क्षादृति । '

१११. नागकुमार जैनपुराणानुसार वाशनदेव का मदेव हुए है। पूर्वजन्म में उन्होंने श्रीपंचमी उत्ताप्ति का विधि सद्वित पालन किया था उसी के कल स्वरूप उन्हें वह करमदेव का अनुपम सौन्दर्य और वल प्राप्त हुआ था। विशेष जानने के लिये ' णागकुमारस्वरिति ' देखिये।

११५. यहि ' श्रोत्विष्टउ ' दोहा नं. ८६ के नोट के लक्षणार 'बुद्धितः' का समाधान जाय तो अर्थ यह ही सकता है कि ' विना दुष्कृतिं लगाये क्या कोई स्लोक में एक छहाम भी पा सकता है । ' इसका तात्पर्य संभक्तः उन पन्द्रहव्यों से होगा जो तीर्थस्थानों पर जल में फेंके हुए सिक्कों की दुष्कृति लगाकर निश्चालते हैं। उन्हें कोई यात्री सीधा दाम नहीं देता।

१२१. अनुवाद में मण रो मन और बलंत से चलन् का अभिप्राय लिया गया है किन्तु दूसरी पंक्ति का अर्थ कुछ संसोषजनक नहीं देता। भ. प्रसि की दोनों में मण से मा का और बलंत गे जबलत् का अर्थ लिया गया है और तदनुसार दोहे का यह अर्थ होता है ' कुछ भी करके चार दान दे । अपनों शक्ति का मत छुपा । जलते हुए (घर में से) जो कुछ मिकाल लेगा वही हाथ रहेगा इसमें अनित नहीं । ' यह अर्थ अधिक अच्छा है। उन्वरइ उद्दर्शते, रहता है या बचता है। देखो हेमचन्द्र व्याकरण ८४।३७९—

महु कंतहो ते दोसडा हैलि म झंखहि आङ्गु ।

देतहो हठं पर उच्चरित्य जुज्जंतहो करवाङ्गु ॥

१२७. अनुवाद में भणगच्छ का अर्थ मनम् + अच्छ, कुछ अच्छे, किया गया है और इस वारण 'मत कर' यह भाव उपर से मिलाना पड़ा है। किन्तु दोहा मे. १२७ के नोट के अनुसार भग फा ' ना ' अर्थ लेकर प्रथम पंक्ति का यह अर्थ कर सकते हैं ' हे जीव मनोगीहनस्व गेयस्य आभिल वा मागच्छ ' हे जीव मनोगीहनस्व गीत की आभिलाषा में गत जा '। भ. प्रति मे ' भग ' के स्थान पर ' मर ' पाठ ही है ।

१३०. अनुवाद में मादिह-मादि-दैन्य (Sadness, dejection) का समरूप लिया गया है । यदि हम इसे दो शब्दों में- म हिन्दू-विमाजित करते हो दोहे का वह अर्थ भी किया जा सकता है ' गुरु के कब्जनरूपी अंकुश से खीच । ऐसा दीजा भत छोड़ कि यह मनस्सी हाथी संजमरूपी हरे भरे वृक्ष के व्यर्थ ही तोड़ भोड़ दाले ' । यह अर्थ अधिक अच्छा प्रतीत होता है । मुह का यहाँ अर्थ मुधा-व्यर्थ लिया गया है ।

१३४. लोह शब्द अर्थक है लोभ और खोह, (लोहा) । भावार्थ यह है कि जिस प्रकार लोहे से भरी नाव के दूबने का भय रहता है किन्तु लोहा निकाल डालने से वह सुलभता से पर लगती है उसी प्रकार लोभ का भार निकाल केकने से मनुष्य की संसार-यात्रा सुलभ होती है । इस दोहे की देव-समकृत भावसंग्रह की निम्न लिखित गथा से तुलना कीजिये—

लोहमण कुतरंडे लगो युरिसो हु तीरणीवाहे ।
बुद्धै जह तह बुद्धै कुपतसम्मणो युरिसो ॥ ५४९ ॥

१३५. अन्य परिचार से लातर्णी कोष, मान, मात्रा आदि दोषों से है जो मोह के क्षीण होने से आय ही क्षीण ही जाते हैं । मोह मानों द्वार की अर्गिका है जो इस सब दोषों को मनस्सी गृह में रोके हुए है ।

भ. प्रति मे ' मेहुण ' पाठ है और प्रथम पंक्ति की टीका है ' यज मोहो बुर्वलो नास्ति तत्र इतरपरिवाराणि कथं क्षीणानि भवन्ति ' । इसी पंक्ति का अर्थ ठंकासार नहीं लगा सके । वे लिखते हैं

‘ द्वयोः पदानां (पदयोः) भवार्थं न काते अतो मया न
लिखितम् । ।

१४२. ‘ चाह ’ शब्द ‘ ल्यागेत ’ के समरूप लिया याया है और ‘ ण ’
‘ तु ’ के (ण के इस अर्थ के लिये देखो कोष) । यदि उसके स्थान पर
‘ चाह , पाठ लिया जावे और कह + कविते : के साथ ओढ़ दिया जावे तो यह
अर्थ हो सकता है कि ‘ चाहु (चापद्धसी) कवितों द्वारा पौरुष (का वण्णन
करेन) से किसी पुरुष की कीर्ति नहीं हो सकती । ’ तात्पर्य यह होगा कि
शत्रु की भी पीड़ी और उसकी प्रशंसा भरे वचनों से प्रखच करो । केवल
वचनमात्र से उसकी कुछ कीर्ति तो हुई नहीं जाती । इसकी निपत्रिकित छोक
से तुलना देखिए ॥

प्रियचाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्ट्यन्ति जन्तवः ।
तस्मात्तदेव वातव्यं वचने का दरिद्रता ॥

१४३. “इस दोहे में ‘ सरसाह ’ और ‘ समुद्रि ’ द्वयर्थक प्रतीत होती
है । सरसाह-सरस्ती व सरस या स्वरस; समुद्र-समुद्र व स्वसुद्रा, वा
स-सुद्रा । अर्थात् मौन से भोजन वरने वाले को भोजन के रसों का आनन्द
मिलता है, सरस्ती भी यिद्ध होती है, तथा लक्ष्मी भी प्राप्त होती है क्योंकि
वह समुद्र (सुद्रित मुख) में निवास करती है । संभव है कि ‘ लक्ष्मिम करहु
निवासु ’ में मकरहु निवास [मकर (मगर) का निवास] के अर्थ का भी
समावेश हो । किन्तु दोहे की रचना में इसे यथोचित रूप से घोषित करना
कठिन प्रतीत होता है । इस दोहे का संख्यत स्पान्नर में इस प्रकार करता हूँ—

भोजनं मौनेण वः करोति सरस्वती [स्वरहेन वा] रिद्धिति तस्य ।
अथवा वसोते समुद्रे (उवधी मुद्रासहिते मुखे वा) जीव लक्ष्मीः, कुह निवासम्
(तस्याः) । भ. प्रति की ढीका में यह कुछ अर्थ नहीं बदलाया याया । ढीका है
‘ यः पुरुषः भोजने मौनं कुर्यात् तस्य सरसास्वाध्यायं (?)
भवन्ति । अथवा ये पुरुषा स्वाध्यायेषु समुद्रिता भवन्ति ले लक्ष्य-
निवासा (?) भवन्ति । ।

१४६. यहां 'लाल' शब्द में छेष है। लाल-लाला (लार) शा पुत्र। कुसियरा-कोशकार या रेशम का कीड़ा जो अपनी लार से रेशम बनाता है और उसी के कारण मारा जाता है। भ. प्रति की टीका का अर्थ इससे भिन्न है। दूसरी पंक्ति की टीका है-क इव। ऐवतकीटकं तस्यैव अंगजातस्यैव हृदयं खादन्ति (खादति) लेकेलुंजाला मृत्सिकाशः कीटकं प्रोक्ष्यते । टीकाकार के मत से भिन्नी के कोई, केसुए, अपनी संतान का भक्षण करते हैं। यदि यह टीक भी ही तो भी यह वाच यहां लागू नहीं होता।

१४८. मामों के कथे रास्तों के अतरपर बरसति मे अंग तक्षणं द्यूति (खोड़े) लगा देते हैं जिससे रास्ता और आधिक न घिरड़ने पावे। न्याय के खोड़े लगाये विना दरिद्री पुरुषों की दशा और विगड़ती ही है।

भ. प्रति के टीकाकार ने यह अर्थ नहीं समझा। उनका अर्थ कुछ विवित्र ही है- 'क इव, यथा काष्ठेन यिना पाद्यवंधनचिह्नकीलि-कासहितयोद्दे ति लोके न भयेत् । तस्य पुरुषस्य पवित्रोऽपि मार्गप्रकर्तेन दुराग्रहो भवति (!) ।

१५०. चन्दन के पास सर्वे रहते हैं इस बरसे वह सुगन्धी वृक्ष घर के पास व गगीचों में नहीं लगाया जाता। यदि हो सो कठ ढाला जाता है।

१५५. जिस प्रकार छत्र से पानी और धाम का निकारण होता है उसी प्रकार इस लोक से लिंगबद्धादि नीच गति और परलोक में नरक यम से ही रोके जा सकते हैं। ऐसा ही अर्थ देन से हृष्णन्त की सार्थकता हो सकती है।

१५६. 'दूरहि' का 'पतनि' पड़ता है, भी अर्थ हो सकता है। नदिबुसार अर्थ यह हीगा कि 'दूरसे पार वार गृत्य (के मुख में) पड़ता है, चिरात्रु कैसे हो सकता है'। हिन्दी उरा-मिरा,

१५७. मुनि आदि धर्मनृद्ध पुरुषों की सेवानुशूल का जग विद्युत्य है। 'कंदि' का अनुत्पत्ति में 'स्कन्दिर् गतिरोपणयोः' वाकु से लगाई है,

अतएव कंदि [स्कृदिन्] - सुखा । अनुवाद के अर्थ के लिये 'अयाणु' की जगह 'अयाण' पाठ चाहिए । अयाणु पाठ से टीक शब्दार्थ यह होगा 'अज्ञानी और सुखा मत हो' । भ. प्रति की टीका कुछ और ही है और उसमें कंदि का अर्थ कव लगाता गया है- 'अमुना प्रकारण व्याधि-पीडितयुक्तानां दातव्यगुणेसु अवातो कर्थं भवसि' ।

१६०. भ. प्रति में लिखे चरण का पाठ अठ है 'मेदनी मेदणि वंयुपवियहं' और टीका है 'वशा वंवूलवृक्षचिपने (बफने) सति आप्रफलं कथमास्याद्यति' ।

१६३. प्रथम पंक्ति की रचना कुछ लिट है । विस से विषयाले प्राणी का जो अर्थ किया है वह पूरी सतोषप्रद नहीं है । भ. प्रति की टीका में उस चरण का कुछ अर्थ ही नहीं आया । टीका है 'ये प्राणिनः कूटतुलया मानोपमानं कुर्वन्ति तथा हस्थदीर्घवाटकेन हीनाधिकं क्रय-विक्रयं करोति स वर्ती आवको न । तस्य धर्मः कीदृशो यथा नाल्यशालायां नृत्यकारिणी बहुवेषं धारयति तत्परेषां रञ्जनं करोत्येव' ।

१६४. दूसरी पंक्ति का अर्थ कुछ सम्बद्धयुक्त है । भ. प्रति की टीका इस प्रकार है 'सम्यकेन सह आवकस्य व्रतानि भवन्ति तेन व्रतेन स्वराधिपो भवति । यदि सम्यकं न भवेत् सहि आवकस्यापि व्रतानि न भवेत् [भवेत्]' । इस अर्थ का मूल के शब्दों से कोई सम्बन्ध ही नहीं दिखाता । श्रीयुक्त उपाध्ये दोहे का संस्कृत रूपन्तर इस प्रकार करते हैं 'समाप्ते आवकव्रतानां उत्पद्यते सुरराजः । योगविनष्टः क्षिप्यते, जातः यत्र कुशापि किं वार्यते' । महां छंडिगढ़ 'क्षिप्यते' के सम्बन्ध लिया गया है और 'सो' का कोई सम्बन्ध-वाचक सर्वतोम नहीं रखा गया । अनुवाद में गविणिद्वाद का गवि+निडा (अछक् समास) इन्द्रियनिष्ठा, अर्थ लिया गया है ।

१७१. यहाँ असोउ [अशोक] और सोउ (शोक) का यमक रूप है ।

१७३. यह शेषा शेषपूर्ण है। पुष्पशुष्टि के वर्णन के साथ साथ कवि ने यहाँ विष्णु और जिन के सत्तों में अन्तर बतलाया है।

माहूरशारण-माधवशरण (वसन्तकृतु-अवलम्बी, विष्णुभक्त) .

चिष्प्यन्ति—परन्ति, तृप्यन्ति (पढ़ते हैं या तृप्त होते हैं) .

सुमणस्स-सुमनस (अच्छे पुण्य, शुद्ध मनधाले) .

अन्तिष्ठविवज्ज्ञाग-अलिक्विजित (अमरसहित), अलीक-विवजित (असत्यराहित).

१७४. **रेष्ट-राजते**, विराजता है। द्रुकबंदी की इष्टि से रोह-रोचते ही ठीक होगा।

१८५. श्रुतपंचमी का उपवास आधार, कार्तिक और काल्युण मास के शुक्रपक्ष की पंचमी को माना जाता है (देखो णायकुमारचरित ९, २०, ४.)

१८६. रोहिणी उपवास प्रत्येक मास में रोहिणी नक्षत्र के दिन माना जाता है (देखो लैनतकथासंग्रह पृ. ३६) । ण-गु (देखो कौष) ।

१९३. दशैन, ज्ञान, चारित्र और तप, ये चार आराधना कहलाती हैं। इस विषय का ग्राकृत में अति प्राचीन ऋथ भगवती—आराधना है जिसका दिग्भवर सभाज में बड़ा मान है। यहाँ उसी की टीका करने का उपदेश जान पड़ता है।

१९७. चंद्रकंति से चन्द्रकान्त मणि का तात्पर्य लिया गया है जो चंद्र की किरणों के संयोग से द्रवित क्षेत्र है। यदि हम दूसरी पाँक को ऐसी पढ़ें ‘चंद्रकंति चंद्रहं मिलिय पाणिथदिणा ण टाइ’ तो इसका अर्थ यो कर सकते हैं, ‘जब चंद्रकान्ति चन्द्र (पूर्णिमाचन्द्र) से मिलती है तब पानी का दैन्य (दीनता) नहीं टहर सकता ’। पूर्णिमा चन्द्र के उदय से समुद्र में ज्वारभाटा आता है यह प्रसिद्ध ही है।

२०५. प्रथम पंक्ति का भावार्थ कुछ अस्पष्ट है। भ, प्रति की टीका का अर्थ ठीक नहीं लैचता ‘हे जीव, यदि त्यागं कर्तुमिच्छसि तर्हि जीवपुद्गलयोः येन सुखं प्राप्यते तत्यागं शेषं कथितं । तस्य इदमेव सम्यक्तं कथं न जातम् ’।

२१३. इस दोहे में कमलाकार सिद्धचक बनाकर उसकी पूजा करने का उपदेश है। सिद्धचक को बनाने का पूर्ण विवरण देवसेनकृत भाष्यसंग्रह की ४४३ से ४६८ गाथाओं में है। इनमें की दो गाथाएँ ये हैं—

सोलवलकमलमज्ज्वे अरिहं विलिहेहु चिदुकलसहित् ।

वंयेण वेदहस्ता उचरि पुण मावबीप्येण ॥ ४४३ ॥

सोलससरोहि घेदहु देहयियप्येण अदृश्यगमा वि ॥

अदुहि दलेहिं शुपर्यं अरिहंताणां णमो सहित् ॥ ४४५ ॥

(वसुनन्दी धावकाचार को ४७० आदि गाथायें भी देखिये) ।

२१४. दो गांत्र वर्ण इस हैं वाईट, सिट, लाल्क, उपाध्याय और साधु के शोलक हैं। यह जपमंत्र है।

२१५. यह सप्ताक्षर (चार्यार्थतः सप्तमात्रिक) मंत्र कहलाता है। उसमें दो चर्ण दीर्घ होने से कुल चार मात्रायें हैं।

२२०. ‘पट्टोलयतस्यांथियहं’ का ठीक अर्थ सप्तम में नहीं आया। अधिक अच्छे अर्थ के अभाव में अनुवाद में वह अर्थ दे दिया है।

पट्टोलय-पट्ट+उलोच (वितान), जिसे हिन्दी में कपड़े का छत कहते हैं। कमरे में इस छत को तानने के लिये जगह जगह उसके किनारों पर एक पथर का ढुकड़ा देकर गांठ दे देते हैं। इस तुच्छ कार्य के लिये जौ एक बड़े बहुमूल्य रस्ते के ढुकड़े करे उससे बड़ा सूखा और कौन होगा? आप्टे के सेस्कूल-अप्रेजी कोष में पट्टोल का अर्थ भी एक प्रकारका बड़ा (a kind of cloth) दिया है। शुक्ल अर्थात् सीप जिसमें से भीती निकलता है, को भी संस्कृत में पट्टोलक कहते हैं। भ. प्रति में अन्त के सात दोहों की शीक्षा नहीं है।

२२२. द्वितीय पंक्ति में ऐसा है। जिसे दोहनेवालों को धेनु उत्तम दृढ़ देती है उसी प्रकार यह उत्तम दोहों की धर्मधेनु (पहने वालों को) उत्तम पद देगी। धर्मधेनुः संदोहकेभ्यः संदोहकानाम् वा, वरपर्यः वर-पदं वा ददाति न भ्रान्तिः ।

दोहों की वर्णानुक्रमणिका

अच्छउ भोयणु ताहे घरि १०.
 अटुइ पल्लर मूलगुण २६.
 अणुमह देइ या पुच्छियउ १६.
 अणुवयमुण सिक्षायवहे ५३.
 अण्णाए आवंति जिय १४५.
 अण्णाए दालिदियहे ओहुद १४९.
 अण्णाए दामिदियहे रे जिय १४८.
 अण्णाए दियहे वि लाह १४७.
 अणु जि मुलालिड फुहियउ २५.
 अणुनद्दुर अणिगमई २४.
 अज्ञामत्तादियहे १५.
 अभयदाणु मयभीरुथह १५६.
 अरहंतु वि दोसहिं रहिउ ५.
 अलिय क्षसायहि मा चबदि ६१.
 अवह वि जे जहिं उवयरद ११९.
 आडसंति सग्गु चहभि ७३.
 आमितसरिसउ भागियउ २८.
 आरसिर दिण्यउ जिणहे ११६.
 दक्कु वि तारद अवजलहे ८५.
 दक्षिन्दु विहि लिहि भवहि ७४.
 उत्तमपत्तु मुणिदु जगि ७९.
 उदवासहु इक्कु फलहे १११.
 उद्यमउसिवयामिहि १३.

एफहिं दियमोङ्कलउ १३८.
 ए याणर एशारसदे १८.
 ए बारह वय जा करद ५२.
 एग्नक्षम्यु पहिलत विदिड १७.
 एशारहधिहु ते कहिउ १.
 एवंधिहु जा जिणु महद १६०.
 एह विहूद जिणसरहे १७९.
 एहु धम्मु जो आयरह ७६.
 कम्मु य खतिश सेप जहि ९७.
 कहि भोयण सहु चिट्ठी ९४.
 काई यहुतहे जिपिचहे १०४.
 काई यहुतहे संपवह ८९.
 काम्महह परिचतियर ४५.
 कि कि देइ य धम्मतह ९८.
 कृष्णलामाणडियहे १६३.
 खन्नहि गुहवयणकुसहि १३०.
 लुह भोउ य तसु महद १८६.
 नहडहे साक्के परिणवह २१७.
 मंधोएण जि जिणवरहे १८२.
 गुणवंतहे सह संगु करि १४१.
 गुहआरेभहे णरयगह १६३.
 वहु गुह एरियणु धगियथणु १३०.
 वज्जिदिय बड बासि करहि १२५.
 वउरहुद योसहे रहिउ १२.

चम्मच्छहं पीयहं जलहं ३२.
 चंद्रोदहं दिणहं जिणहं १९४.
 चामर ससिहरवरथवल १७६.
 चिरकियकमहं लक्ष्मी करह ६५.
 चिथन्नमरछतहं जिणहं २००.
 चोरी चोर हणेह पर ४८.
 छतहं छणसासिंहुरहं १७७.
 तुड देसणु महायरउ ५८.
 तुड मुविसुद्धिय होइ जिव १०७.
 जइ अहिलासु पिष्ठरियउ ५१.
 जइ इच्छहि संलोसु करि १३७.
 जइ गिहरथु दाणेण जिणु ८७.
 जइ जिय सुखलहं अहिलमहि १२२.
 जइ देखेवउ लहुयउ ४९.
 जलधारा जिणपयगयउ १८३.
 जसु देसणु रसु माणुसह ५४.
 जसु फतुत्तमराहयउ १७१.
 जं जिय दिजजह इत्थु भवि १४.
 जं दिजबह तं पावियइ १२.
 जंवृष्टिर समोसरणु २०२.
 जासु जाणणि सरगतामणि १६७.
 जासु हियइ आ सि आ उ सा २३५.
 जिणपडिमहं कारावियहं १९३.
 जिषपयगयकुमंजलिहि १९१.
 जिणभवणहं कारावियर १९३.
 जिगहरि लिहियहं मंहियहं २०१.
 जिणु अबहं जो अवनवयहि १८५.

जिणु गुण देह अचेयणु वि २१८.
 जिल्लिदिड जिय संवरहि १२४.
 जिव मंतरं सत्तकमहरं २१५.
 जिह समिलहि सावर मयहि ३.
 जूरे घगहु ण हाणि पर ३८.
 जेण अगलिउ जलु पियड २७.
 जेण मुदेड मुगरु हवासि १५५.
 जे सुणति थम्मवरहं ११८.
 जो वरि हुतहं धणकणहं १३.
 जो चवड जिणु चंदणहं १८४,
 जो जमुच्छवि प्हावियउ १६८,
 जो जिणु फ्हावद वयपयहि १८१.
 जो धकलावइ जिणभवणु १९४.
 जो नेश्वाह जिणमहहं ३५८.
 जो वयभायणु सं जि तणु ११६.
 जुगिअविलयक्षम्पुणहल १७८.
 छिलउ हीहि म इंदियहं १२९.
 णमकारेनिणु पंचगुह १.
 णयसुरसेहरमणिक्किरण २३३.
 ण हु विग्यासिय दलकमङ्ग २१२.
 णाणुगमि जसु समसरणे १७०.
 णासद भणु तसु परतयउ ६२.
 णिद्वणमगुयहं कटुदा ११४.
 णिगमविद्वणहं णिदुदी १३५.
 णेवजजहं दिणहं णिगहु १८७.
 तं अपलु अवगमि मणिउ ८३.
 तं पावहु जिणवरवयणु ६.
 तंबोलोसहु जल मुझवि १७.

ता अच्छउ जिय पिसुणमइ १५०.
 दामच्छउ तउमंषयह ३१.
 दिलयह दिण्णइ जिणवरह ११७.
 से कज्जे जिय पह भणिड ११२.
 ते कमसवलउ मणिग जिय २१०.
 ते समसतु मदारथण २०८.
 दम जि मूल धमंथिवहु ४०.
 दंसणभूमिहि बाहिरउ ५७.
 दंसथरहियकुपति जह ८१.
 दंसणरहिय जि तउ करहि ५५.
 दंसणसुद्धिए सुद्धवह ५६.
 दंसण णाणु चरितु तड २२४
 दण्डणविहि जे करहि ११३.
 दाणकणविहि जो करह २०९.
 दाणु कुफतह दोसडह ४६.
 दिण्णइ बत्थ सुआजियह २०३.
 दिसि विदिसहि परिमाणु करि ६६.
 दीवह दिण्णइ जिगलरह १०८.
 दुबणु सुहियउ होउ जगि २.
 दुण्ण सथह विसुलरह २२२.
 दुलहु लहि मणुयतणउ २२१.
 दुलहु लहियि णरतयण २२०.
 देद जिणिदह जो कलह १५०.
 देहि दाण चउ र्कि पि करि १२०.
 धमसरहों परिणवह ९१.
 धमहु बणु परिहोइ थिरु १००.
 धमु करउ जह होइ धण ८८.

धमु करतह होइ धण ११.
 धमु विसुद्धउ तं जि पर ११३.
 धम्में इनकु वि खहु भरह १०३.
 धम्में जं जं अहिलसइ १६५.
 धम्में जाणहि जंति पर १०२.
 धम्में विणु जे सुक्खडा १५२.
 धम्में सुहु पविण दुहु १०१.
 धम्में हरिहलचकवह १६६.
 धवल वि तुरस्तर्डनिदह १०४
 धूवउ खेवह जिणवरह १४९.
 पत्तह दाणह दाण जिय ७०.
 पत्तह जिणउवएसियह ८०.
 पत्तह दिण्णल थोवलउ ९०.
 परतिय बहुवंधण ण पर ५०.
 परिहरि कोहु खमाह करि १३१.
 परिहरि पुत्तु वि अप्पणउ १४६.
 पसुधणधणह खेत्तियह ६४.
 पंचमु जसु कञ्चासणह १४.
 पंचाणुवय जो धरह ११.
 पंचुवरह जिविलि जसु १०.
 पाड करहि सुहु अहिलसहि १६०.
 पारद्विउ परणिपिणउ ४६.
 पुगलु ओवह सहु गणिय २०५.
 पुट्टिमसु जह छट्टियउ ४१.
 पुण्णरासिष्ठवणाहयह २०७.
 पुण्णु राड जसु शणि ण समु २११.

पोटलियहं माणी चित्तवदे ११०.
 पोहहं लगि वि पावनद १०६.
 पोतथव दिणग ण सुषिवरहं ११५.
 करतिदिज मा लालि जिव १२३.
 वंभयारि रात्मु भणिड १५.
 विष्णि सवई अ से आ उ सा २३३.
 मव्युक्त्ताहणि पावहरि ११९.
 मोगहं करहि पमणु जिय ६५.
 भोगण मउणे जो करह १५३.
 मउवत्तणु जिय मणि धरादि १३३.
 मगगई शुद्धवणु खियहं ८.
 मज्जु मंसु महु परिहरइ ७३.
 मज्जु मंसु महु परिहरहि २२.
 मज्जु सुकु मुकहं सयहे ४३.
 मण गच्छहं मणभेदणहं १२७.
 मणवयकायहि दय करहि ६०.
 मणुयत्तणु दुलहु लहिवि २१९.
 मणुयहं विषयविवरजियहं १३८.
 महु आसायड थोडउ वि २३.
 माणई ईछिव परमहिल ६३.
 माया भिहाहि थोडिय वि १३३.
 माहजसरणु खिलीमुहड १७३,
 मित्ततो यह मोहिगड १३६.
 मुक्त मुणहमंजरपमुह ४७.
 मुक्तहं कूठतुलाइयहं ४९.
 मुणि वयणहं ज्ञायहि मणई १०८.
 मुहु खिलेहिवि मुतद सुणहु ४२.

नुलड जाली भिलहम्मुण ४४.
 मूलगुणा इव एतःहं ५३.
 मोहु णु छिलेहु लुधलड १३५.
 शाहरानियन्नमानुमुर ३३
 श्वहु उप्परि रह न करि १२६.
 रे जिय लुक ण घम्मु किड १५४.
 लोहु मिलि चउगइसलिङ्ग १२४.
 लेहु लक्क विसु सागु मथणु ६७.
 वग्गाहं ताचहं लेहि जिव ५३.
 चरित लिमिह विगेतरहं १०२.
 विज्ञावन्तु ण पहं कियड १५७.
 विज्ञावच्चे विरहियड १३९.
 विसयकसाय वसणाणिवहु १४४.
 विहडावड ण हु संघडह १५९.
 वेदलमीणिल ददिमहिड ३६.
 वेसहिं लगगइ धणियवणु ४४.
 सज्जारु णायहु पसह १४०.
 लग्गासेण मरतयहं ७१.
 सत्तु वि महुरद उवममद १४२.
 सत्थसएण विशाणियहं १०५.
 सदमिसिण दुंदुहि रडह १७५.
 सम्मते विणु वय वि मय २०६.
 सम्मते सावदवयहं १६४.
 सव्वहं कुमुमइ छिडियहं २१.
 संकाइय अडुड मय २०.
 संगचार जे करहि जिय ७५.
 संगे मज्जाभिसरयहं २१.

संवदं दिष्टु ए चउविहर्वं १५८.
 संजु सीलु सउच्चु तउ ४.
 संक्षातिहि मि समाइयर्वं ६८.
 सारेभर्वं एहवणाइयहं २०४
 सावयधम्महं सवलहं मि ७८.
 शुगि दंसणु जिय जेण विणु २३
 सुरसायरि जसु गिङ्गमणि १६९.

सुषियउ हुकउ ण को थि इह १५३.
 लहु सारउ मणुयतणहं ४.
 इयगयसुणहर्वं दारियहं ८२.
 हलुबारेभर्वं मणुयगह १६३.
 शारिउ तै धगु आपणउ ८४.
 हियकमलिहि सरहरथश्वल २१३.
 होइ वणिझु ण पोहलिहि १०३.



शुद्धिपत्र.

अर्थ की दृष्टि से दोहों के पाठ व असुवाद में जो सुधार किये जा सकते हैं वे टिप्पनी में बताये गये हैं। यहां केवल प्रेस की अशुद्धियों का शोधन किया जाता है।

दोहा नं.	अशुद्ध.	शुद्ध.
९	मणुसजम्मु	माणुसजम्मु
६६	पलिड	पालिड
६७	पिडिड	पाडिड
६८	उप्पज्जै	उप्पज्जै
१०७	अम्मु	धम्मु
११५	णिटुडी	णिटुडी
१३३	मिल्लही	मिल्लहि

कारंजा से दो ग्रन्थमालाएं प्रकाशित हो रही हैं
जिनमें निम्न लिखित अपभ्रंश भाषा के ग्रन्थ
प्रकाशित हो रहे हैं—

जसहरचरित् पुष्पदन्त कृत ६)
सादवधमदेहा ५॥)
णायकुमारचरित् पुष्पदन्त कृत ६)

निम्न लिखित अपभ्रंश ग्रन्थ शीघ्र ही क्रमशः प्रकाशित होने वाले हैं—

करकंडचरित् — कलकामरमुलि कृत,
पाहुड दोहा
सुर्वसणचरित् — तथनन्दि कृत
अपभ्रंशकथासंग्रह
पालचरित् — पालनन्दि कृत
जस्वूलामि चरित् — थीर कृत
मटाणुराण — पुष्पदन्त कृत
कथाकोष — थीवन्द्र कृत
पठमचरित् — स्वर्यभू कृत
हरियंशपुराण — „

मिलनेका पता—मोतीलाल बजारसीदास,
पंजाब संस्कृत बुकडिपो, लाहोर.

Printed from type by T. M. Patel at the 'Saraswati
Power Press,' Amravati.

ANU

Published by Seth Gopal Ambadas Chawara,
Karanja Berar (India).
